प्रज्ञा के पथ पर

(गीता पर विवेचन)

+

रोहित मेहता

'मनसस्तु परा बुद्धि'

हिन्दी प्रचारक संस्थान

प्रज्ञा के पथ पर

Pragya Ke Path Par

by

Rohit Mehta

संस्करण : प्रथम

(१२००)

अक्तूबर : १९६९

मूल्य : ८.०० मात्र

प्रकाशक :

विजय प्रकाश बेरी

हिन्दी प्रचारक संस्थान

(व्यवस्था : कृष्णचन्द्र बेरी एण्ड सन्स)

पो. बॉक्स न १०६, पिशाचमोचन, वाराणसी–१

मुद्रक :

भारती मुद्रण

बड़ी पियरी, वाराणसी–१

प्रथम अध्याय

मन का विक्षेप

भगवद्गीता का हृदयस्पर्शी सन्देश उसके प्रथम अध्याय से ही प्रारम्भ होता है। गीता के अनेक व्याख्याकारों ने इस प्रथम अध्याय को विशेष महत्व नहीं दिया है; क्योंकि उनकी धारणा है कि इस महान् और सार्वभौम धर्मग्रन्थ के मूल विचार से इस प्रथम अध्याय का कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि यह सही है कि यह प्रथम अध्याय महाभारत-युद्धक्षेत्र के विस्तृत वर्णन से भरा है, तथापि गीता द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन की वास्तविक पृष्ठभूमि का दर्शन इस रणरंग के विस्तृत चित्र में ही होता है। वस्तुस्थिति यह है कि गीता जिस जीवन-पद्धति का प्रतिपादन करती है उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानव के अन्तःकरण से, उसकी मनोदशा से है। मानव के अन्तःकरण में नित्य संघर्ष जारी है। कुरुक्षेत्र का युद्ध पाँच हजार वर्ष पहले ही लड़ा जा चुका है, सो बात नहीं; मानव की मनोभूमि में प्रति दिन, प्रतिक्षण वह युद्ध चल रहा है। अतः गीता के प्रथम अध्याय में चित्रित रणक्षेत्र का विवरण मानव के अन्तःकरण का ही प्रतिबिम्ब है जहाँ कि 'सत्' और 'असत्' का सतत संग्राम जारी है। इसलिए इस अध्याय की उपेक्षा करना, गीता की शिक्षा के मूल सन्दर्भ को ही, जिसके बिना इस शिक्षा को समझना कठिन है, खो देना है।

प्रचलित आख्यान यह है कि अन्धे धृतराष्ट्र को कुरुक्षेत्र में घटित महाभारत युद्ध का प्रत्यक्ष वर्णन संजय ने सुनाया और उसी सिलसिले में गीता भी सुनायी। इस अध्याय के पीछे एक महान् तत्त्व निहित है। हम में से अधिकांश लोग अन्धे धृतराष्ट्र की ही स्थिति में हैं; अपनी आँखों से देख नहीं पाते कि जीवन की रणभूमि में क्या-क्या हो रहा है, क्योंकि हम अपने दैनिक जीवन-प्रसंगों से तद्रूप हो जाते हैं, उनमें आसक्त हो जाते हैं। धृतराष्ट्र ने मन से तो यही चाहा था कि कौरव और पाण्डव इस भ्रातृघाती युद्ध से विरत हो जायें; उसी तरह हम भी अपने जीवन के आन्तरिक युद्ध से बचना चाहते हैं, परन्तु धृतराष्ट्र के समान हम भी विवश हैं। राजा धृतराष्ट्र दुर्योधन की योजनाओं और कुचक्रों

से अपने को पृथक नहीं कर सका ; और उसी के परिणामस्वरूप यह विध्वंसक युद्ध हुआ। युद्ध-प्रसंगों को ठीक-ठीक देखने में धृतराष्ट्र की असमर्थता का मुख्य कारण यही रहा है कि वह सुयोधन के प्रति अत्यासक्त हो गया था, उससे एक रूप हो गया था। अन्धे धृतराष्ट्र को यथावत् युद्ध-वृत्तान्त सुनानेवाला संजय उस ज्ञान का प्रतीक है जो सर्वथा तटस्थ और वस्तुनिष्ठ है। हम भी बहुधा जीवन-संग्राम में घटित होने वाले प्रसंगों से प्रायः दिग्मूढ़ हो जाते हैं, क्योंकि उन से हम अपने को पृथक नहीं कर पाते हैं। हमें भी एक संजय की आवश्यकता पड़ती है जो हमारे ज्ञान में वस्तुनिष्ठा और तटस्थता निर्माण कर सके। भगवद्गीता से हम में अपने अन्दर इस संजय को खोजने की सामर्थ्य अवश्य उत्पन्न होती है। क्योंकि गीताके उपदेशों का मुख्य सार ही यह है कि हमें अपने जीवन की ओर सर्वथा अलिप्त और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखना चाहिए। इसी वस्तु निष्ठा से मनुष्य को जीवन का अर्थ प्रतिभासित हो सकता है।

गीता का प्रथम श्लोक ही क्या कम महत्त्वपूर्ण है जिसमें धृतराष्ट्र संजय से रणवृत्त सुनाने की माग कर रहा है? उस माँग में भी धृतराष्ट्र की मानसिक अन्धता स्पष्ट दिखाई देती है, जो दुर्योधन के प्रति आसक्ति तथा तदात्मता से निपजी है और वस्तुस्थिति को यथावत् देखने नहीं दे रही है।

प्रथम श्लोक यह है :

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।

इसका अर्थ है—'हे संजय, पवित्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित पाण्डवों और मेरे पुत्रों ने क्या किया?' धृतराष्ट्र के इस 'मामकाः' शब्द में ही दुर्योधनादि से उसका ममत्व स्पष्ट हो रहा है। इस प्रकार गीता के प्रतिपाद्य विषय का जो केन्द्र बिन्दु है—आसक्ति और अनासक्ति—उसका विवेचन इस प्रथम श्लोक में व्यक्त होता है। गीता का सम्बन्ध भौतिक रणक्षेत्र से उतना नहीं है, जितना मानव के आन्तरिक युद्ध से, द्वन्द्व से है। मनोभूमि की इस मनोहर गाथा की समुचित नान्दी इस प्रथम अध्याय से ही होती है।

दोनों पक्षों के प्रमुख सेनानियों और योद्धाओं के नाम सुना कर संजय रणक्षेत्र का यथावत् वर्णन सुनाता है। सर्वप्रथम कौरवों के और उसके बाद पाण्डवों के शंख आदि रणवाद्यों के निनादित होने की बात कहता है। संजय कहता है :

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।

चारों ओर शंख ही शंख बज उठे जिनका तुमुल नाद धरती और आकाश में सर्वत्र गूंज उठा। इस हृदय-विदारक शंखनाद ने ही मानो अर्जुन को संग्राम की वास्तविकता से सचेत किया। क्योंकि उस तुमुलनाद के तुरन्त बाद ही अर्जुन अपने सारथी श्री कृष्ण से कहता है :

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।

"हे अच्युत, उभय सेना के मध्य मेरा रथ खड़ा करो, ताकि उन युद्ध-लिप्सु योद्धाओं को देख सकूँ जिनसे मुझे लड़ना है।"

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश युद्धभूमि में किया जहाँ कौरवों और पाण्डवों की सेनाएँ आमने-सामने सन्नद्ध खड़ी थीं और एक-दूसरे पर टूट पड़ने की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थीं। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हो सकता है कि कौरव-सेना उतनी देर कैसे शान्त खड़ी रही, जब तक कि अर्जुन की विविध आध्यात्मिक और व्यावहारिक शंकाओं का एक-एक कर निरसन होता रहा? यदि हम गीता को वस्तुतः कौरव-पाण्डवों के भौतिक युद्ध के सन्दर्भ में ही देखते हैं, तो यह सारा कृष्णार्जुन-संवाद सर्वथा असंगत सिद्ध होनेवाला है। भीषण युद्ध जहाँ छिड़ रहा हो, जहाँ सैनिक व्यूह ठीक कर खड़े हों, वहाँ गीता जैसे तत्वज्ञान का उपदेश न तो सम्भव है, और न विश्वसनीय ही।

महाभारत-युद्ध भले ही ऐतिहासिक युद्ध रहा हो, परन्तु गीताकार ने प्रत्यक्ष जीवन के महासंग्राम के मूल विषय का अवतरण करने के लिए मात्र एक प्रारम्भ बिन्दु के रूप में उस युद्ध का उल्लेख किया प्रतीत होता है। उस युद्ध वर्णन से जीवन के घोर संघर्ष का और उससे विकट परिस्थितियों का सजीव चित्र प्रस्तुत होता है। इसलिए जब हम भौतिक युद्ध का नहीं, मनोजगत् में नित्य घटित होनेवाले आन्तरिक युद्ध का सन्दर्भ लेते हैं, तभी गीता का और उसके सन्देश का कुछ अर्थ है। भगवद्गीता के अपने अनुवाद की प्रस्तावना में लिखे डा० एनी बेसेंट के ये शब्द इस महान जीवन-ग्रन्थ का मर्म समझने में सहायक हो सकते हैं :—"चूँकि अवतार-पुरुष के सारे कर्म प्रतीकात्मक होते हैं, इसलिए प्रत्येक स्थूल प्रसंग का एक सूक्ष्म आशय भी होता ही है, जैसे कुरुक्षेत्र

को हृदय के भीतर के रणक्षेत्र के रूप में और धृतराष्ट्र के पुत्रों को आत्मविकास-विरोधी तत्त्वों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।"

कुरुक्षेत्र के युद्ध की तरफ जब हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखते हैं, तब गीता के उपदेशों का नया अर्थ प्रकट होने लगता है। गीता द्वारा प्रतिपादित जीवन-पद्धति सर्वथा व्यावहारिक दीख पड़ती है, क्योंकि वह मानव के आन्तरिक अथवा मानसिक संघर्षों पर नया प्रकाश डालती है। मानव के इतिहास में यह आन्तरिक युद्ध शायद ही कभी इतना भीषण रहा होगा जितना आज है। इसीलिए गीता के सन्देश की उपयोगिता भी कभी इतनी नहीं रही होगी जितनी आज के युग में है, जहाँ एक ओर सुख-सामग्रियाँ निरन्तर बढ़ती जा रही हैं और दूसरी ओर जीवन से सुख-सन्तोष क्षीण से क्षीणतर होते जा रहे हैं।

विज्ञान और यंत्रविद्या (टेक्नालाजी) के इस युग में क्या कारण है कि मानव का यह अन्तर्युद्ध ऐसा उत्कट रूप धारण कर रहा है? यह निश्चित है कि मानव का यह सारा संघर्ष, प्रमुखरूप से भले न हो, अधिकांश तो मानव की अपनी मनःस्थिति के कारण ही है। वस्तुतः मन ही मानव के बन्धन का और उसकी मुक्ति का भी मूल है। जिस मात्रा में मन का विकास होता जाता है, उसी मात्रा में मानव-जीवन की जटिलता बढ़ती जाती है। मन के उन्नत होने के साथ-साथ मनुष्य दो संसारों का निवासी बनता है—एक बाह्य परिस्थितियों का संसार, और दूसरा आन्तरिक कामनाओं का संसार। अविकसित मनोदशा में इन दो संसारों के बीच का फासला अत्यल्प होता है; और ज्यों-ज्यों मन उन्नत और विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों यह फासला इतना बढ़ता जाता है कि दोनों का समन्वय करना दुःसाध्य हो जाता है। नित्य निरन्तर बढ़ते हुए इस अन्तर में आज का मानव जी रहा है और इसी के परिणामस्वरुप नित्य-जीवन में वह नाना प्रकार के तनाव, परेशानियाँ, दबाव और यातनाएँ भोग रहा है। आज मानव के मन का इतना अमर्याद विकास हो गया है कि कई विचारक इस युग को "मनोयुग" कहने लगे हैं। आज हम मनोयुग में जी रहे हैं और इसलिए हमारे युग की मूलभूत समस्या मन की समस्या है। आज का ज्वलन्त प्रश्न भी यही है कि मनःशक्ति की वृद्धि के साथ निर्मित इन मानसिक तनावों और अन्तर्द्वन्द्वों से मानव मुक्त कैसे हो, और यह मानव-मन वैश्विक संकल्प और व्यक्तिगत संकल्प में संगति कैसे निर्माण कर सके?

आधुनिक मानव की इन समस्याओं की पृष्ठभूमि में ही गीता के उपदेशों का वास्तविक मूल्यांकन हो सकेगा। क्योंकि गीता मानव-मन की समस्याओं का

विचार करने वाला, मानवीय और वैश्विक संकल्पों की संगति स्थापित करने का प्रयत्न करनेवाला ग्रन्थ है। भगवद्गीता श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है। क्या यह सही नहीं है कि श्रीकृष्ण वैश्विक संकल्प का और अर्जुन मानव संकल्प का प्रतीक है? इन दोनों संकल्पों का संघर्ष ही गीता की मीमांसा का मुख्य विषय है। कुरुक्षेत्र का युद्ध सचमुच इन्हीं दोनों संकल्पों के युद्ध का प्रतिरूप है। गीता की समाप्ति भी अर्जुन के इसी कथन से होती है कि 'तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही मैं चलूंगा'—"करिष्ये वचनं तव।" तुम्हारी ही बात मानूंगा। इस कथन में दोनों संकल्पों का समन्वय, बल्कि दोनों का एकीकरण हम देखते हैं। जैसे डा० राधाकृष्णन् अपने गीता विषयक व्याख्यानों में कहते हैं—"दिव्य जीवन यही है कि ईश्वरेच्छा ही हमारी इच्छा हो जाय।" आगे वे लिखते हैं—"जब ईसा ने कहा कि 'यह प्याला मुझसे दूर हो' तब उस की स्वतंत्र पृथक इच्छा शेष थी और अपने समाधान के लिए उसने यह कहा। उस कठोर यातना और मृत्यु से उसने बचना चाहा। परन्तु जब उसने कहा—'तेरी इच्छा पूरी हो' (करिष्ये वचनं तव) तब उसने अपना पृथक अस्तित्व विसर्जित कर दिया और अपने को उस पिता के काम में एकरूप कर दिया जिसने उसे भेजा था।"

गीता का समूचा सन्देश भी 'यह प्याला मुझसे दूर हो' से 'तेरी इच्छा पूरी हो' तक का प्रवास है। गीता ने व्यक्तिगत कामना से वैश्विक तथा व्यक्तिगत कामनाओं की एकरूपता साधने तक की इस मानसयात्रा का मार्ग प्रशस्त किया है। आज का मानव अपने मानसिक तनावों और द्वन्द्वों से तभी मुक्ति पा सकेगा जब वह इस मार्ग पर चलेगा।

चारों ओर शंख ध्वनि का गूँज उठना, जैसा कि गीता ने वर्णन किया है, निश्चित ही मानवमन की समस्याओं का प्रारम्भ है। अर्जुन की कठिनाई शंखों की गगनभेदी तुमुलध्वनि सुनने के साथ-साथ प्रकट हुई दिखायी गयी है। उस ध्वनि ने ही अर्जुन को प्रस्तुत परिस्थिति का भान कराया और उस परिस्थिति को प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखने की इच्छा से अर्जुन ने अपना रथ दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करने को कहा। गीता का अर्जुन मुख्यतया उस मानव-मन का प्रतीक है, जो सजग है, सक्रिय है और जिसकी शक्ति और सम्भावनाओं का पर्याप्त विकास हो चुका है। ऐसे मन में चारों ओर से शंखों के बजने से खलबली पैदा हुए बिना नहीं रहेगी। एक-दो शंख नहीं, सब दिशाओं से असंख्य शंख बज उठते हैं, जिससे अपार संक्षोभ पैदा होता है। क्या वर्तमान

युग में हमारा मन भी ऐसा ही नहीं है, जिसे चारों ओर से आधुनिक सभ्यता की अपार ध्वंसध्वनियाँ आलोड़ित कर रही हैं? हम अशब्द भ्रमजाल में फँस गये हैं; समझ नहीं पा रहे हैं कि किधर जायें। नयी सभ्यता के यंत्र इस कदर कोलाहल मचाते ही जा रहे हैं कि हम अधिकाधिक दिग्मूढ़ ही होते जा रहे हैं। हमारी यह मूढ़ता उसी प्रकार अस्पष्ट और धुँधली है, जिस प्रकार दोनों सेनाओं के बीच रथ खड़ा करने से पहले अर्जुन की रही है।

दोनों सेनाओं के बीच अर्जुन ने अपना रथ क्यों खड़ा करना चाहा? इसलिए कि मन किसी भी परिस्थिति को या समस्या को तभी स्पष्ट ग्रहण कर सकता है, जब वह उसके दोनों पक्षों को ठीक से देख पाता है। मन दोनों पक्ष देखता है, मानो एक के बाद एक देखता है। पहले एक पक्ष को देखता है और फिर दूसरा, तो यह यह भी देखता है कि दूसरा पक्ष पहले का प्रतिपक्षी है, विरोधी है। इस तरह दोनों सेनाओं के बीच रथ खड़ा करना, मानो मन के द्वारा समस्या की वस्तुस्थिति का अवलोकन करना है। मन तभी सजग और सावधान हो पाता है जब परिस्थिति के दोनों पक्षों को ठीक से देख पाता है। दो प्रतिपक्षी बिन्दुओं के बीच का संचार मन का स्वाभाविक संचार है। जब तक यह संचार अबाध और निश्चित है, तब तक मन आश्वस्त रहता है। द्वंद्वनाद के कारण अर्जुन दिग्भ्रान्त हो जाता है और इसीलिए पक्ष-प्रतिपक्ष के दोनों बिन्दुओं का समावलन कर परिस्थिति का वास्तविक पृथक्करण कर लेना चाहता है।

दोनों सेनाओं के बीच रथ खड़ा करते ही अर्जुन की जो मनःस्थिति बनती है, वह बड़ी रोचक है, उसकी प्रतिक्रिया बड़ी विचित्र हो जाती है। जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि 'दोनों सेनाओं के बीच मेरा रथ खड़ा करो ताकि युद्ध में दुर्बुद्ध धार्तराष्ट्रों की प्रियकामना लेकर लड़ने आये हुए राजाओं को देख सकूँ' तो श्रीकृष्ण ने अपने आप्त सखा और प्रिय शिष्य के वचन के अनुसार भीष्म-द्रोण आदि योद्धाओं के सामने, दोनों सेनाओं के बीच उसका रथ खड़ा करके कहा 'हे पार्थ! युद्धसन्नद्ध कौरवों को देख लो'। अर्जुन ने देखा कि सामने आचार्य, पिता, पितामह, भ्राता, पुत्र, पौत्र आदि सभी स्वजन सुयोधन की ओर से प्राण देने को तैयार खड़े हैं। अर्जुन इस दृश्य के लिए तैयार नहीं था। इसे वह सहन नहीं कर सका। ऐसा नहीं कि कौरव सेना में कौन-कौन हैं, यह बात वह जानता न हो, परन्तु उन सबको उसने प्रत्यक्ष सम्मुख देखा तो वह शोक और उद्वेग रोक नहीं सका। शोकाकुल होकर श्रीकृष्ण से कहने लगा:

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।

—'मेरे अपने ही लोगों को युद्ध के लिए तैयार खड़े देख कर मेरा शरीर काँपने लगा है, मेरा मुँह सूख रहा है, रोंगटे खड़े हो रहे हैं; मेरा धनुष-गाण्डीव हाथ से फिसला जा रहा है, सारा शरीर जल रहा है। मैं खड़ा भी नहीं रह पा रहा हूँ। मेरा चित्त घूम रहा है।'

कौरव-सेना में स्वजनों को देख कर अर्जुन के शोकाकुल होने का क्या कारण है? क्या पहले से उसे ज्ञात नहीं था कि सामने वे लोग होंगे? वह अवश्य जानता था कि प्रतिपक्षी सेना के योद्धा कौन लोग हैं और उसे किनसे लड़ना है। तो क्या अर्जुन युद्ध से भयभीत हुआ? नहीं। वह भीरु नहीं था, कायर नहीं था। वह श्रेष्ठतम योद्धा था, वीरों का वीर था। इससे पहले वह कई युद्ध लड़ चुका था, भयानक से भयानक शत्रुओं का संहार कर चुका था। वह अहिंसा मार्ग का भी अनुयायी नहीं बना था। तब फिर यह शोक किसलिए था? इस प्रश्न के उत्तर में हमें गीता के उपदेशों का विशुद्ध मनोवैज्ञानिक आशय स्पष्ट गोचर होता है। पहले हम देख आये हैं कि अर्जुन सक्रिय और सजग मानव-मन का प्रतीक है जो अपनी क्षमताओं और सम्भावनाओं से परिचित होते हुए भी मर्यादाओं से अनभिज्ञ है। मनुष्य की बुद्धि तत्त्वचर्चा या ऊहापोह करने में बड़ी दक्ष और कुशल होती है, परन्तु प्रत्यक्ष परिस्थिति उपस्थित होने पर चतुराई से पीछे हटने लगती है। इसीलिए मनुष्य अक्सर समस्याओं को टालता जाता है। अर्जुन जानता था कि शत्रुसेना में कौन लोग हैं, लेकिन वह ज्ञान उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं था, कल्पनात्मक था। तभी तो उसने श्रीकृष्ण से कहा कि 'मैं दुर्बुद्धि धार्तराष्ट्रों को प्रियकामना से युद्ध-सन्नद्ध योद्धाओं को देखना चाहता हूँ'। यह उसका वीरोचित वचन था, परन्तु उन्हें जब प्रत्यक्ष सामने देखा, तो उस वास्तविक स्थिति में वह घबड़ा उठा। रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करने को कृष्ण से कहते समय शायद अर्जुन जानता नहीं था कि वह चाहता क्या है? इस स्थिति में अर्जुन को वास्तविकता का सामना करना पड़ा, जिसके लिए वह तैयार नहीं था।

मानव का मन जब भी किसी समस्या का समाधान खोजता है, तब प्रायः वह उसका मूल्य चुकाने को तैयार नहीं होता। वह सदा पक्ष-प्रतिपक्ष के दो बिन्दुओं के मध्य दोलायमान रहने की स्थिति को, अपने स्वाभाविक संचार को अक्षुण्ण रखना चाहता है। यदि समस्या का वह समाधान इस दोलायमान स्थिति में बाधा न पहुँचानेवाला हो, तो वह अवश्य स्वीकार्य होता है, अन्यथा, यदि उस स्थिति को विचलित करने वाला या उसे धक्का पहुँचानेवाला होता है, तो वह उसे बड़ा अप्रिय और प्रतिकूल मालूम होता है। यही अर्जुन के शोक का कारण था। उसके हाथ से गाण्डीव का फिसल पड़ना मनुष्य की इस मनःस्थिति का द्योतक है जब उसे ऐसी वस्तुस्थिति का सामना करना पड़ता है जिसमें उसकी अखण्डता का खण्डित होना निश्चितप्राय है।

मनुष्य की बुद्धि बड़ी चतुर है। उसे जो करना होगा या जो नहीं करना होगा उसके समर्थन में वह समुचित युक्ति खोज लेती है। मनुष्य जब भी किसी दुविधा से बच कर निकलने की सोचता है तो उसके समर्थन में ऐसी-ऐसी दलीलें देने लगता है जो वास्तव में सुसंगत और यथार्थ प्रतीत होती हैं। अर्जुन भी अपनी इस विकट परिस्थिति से बचने के लिए बहुत ही उत्कृष्ट युक्तियाँ प्रस्तुत करने लगा। युद्ध टालने के पक्ष में उसने एक भी युक्ति रख नहीं छोड़ी। वह श्री कृष्ण से कहता है :

> एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन
> अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किंनु महीकृते।
> निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन
> पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।

'ये भले मेरी हत्या कर दें, परन्तु मैं हे मधुसूदन, तीनों लोकों का साम्राज्य पाने के लिए भी इनको मारना नहीं चाहता; फिर इस धरती की क्या बात ? हे जनार्दन, इन धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारने से हमें कौन सा सुख मिलनेवाला है ? बल्कि इन आततायियों की हत्या का पाप ही लगेगा'।

ये शब्द अर्जुन को शोभा देनेवाले नहीं थे, क्योंकि वह क्षत्रियकुलोत्पन्न था। वैसे भी वह युद्धमात्र का विरोधी नहीं था, यह भी स्पष्ट ही है। वह तो स्वजन-संहार की कल्पना से भयभीत हुआ था। वह प्रत्यक्ष आँखों के सामने देख रहा था कि सभी स्वजन खड़े हैं, मरने-मारने को तैयार हैं। इस दृश्य ने उसे विचलित कर दिया, उद्विग्न बना दिया। अर्जुन के लिये ये सारे स्वजन उसकी आसक्ति के

केन्द्र थे उनके दर्शन से उसकी हार्दिक भावना जाग उठी। यद्यपि अर्जुन ने युद्ध की व्यर्थता सिद्ध करने वाली युक्तियाँ दीं, परन्तु उसकी युद्ध-विमुखता का *वास्तविक कारण उस का स्वजन-व्यामोह था और उसे उन्हीं स्वजनों का संहार* करना था। ऊपर हमने कहा है कि मानव का मन अखण्डता-प्रेमी है और उस अखण्डता में बाधा पहुँचानेवाली हर बात उसे बड़ी अप्रिय लगती है। जब चित्त के मोह और आसक्ति के केन्द्र जाग्रत हो उठते हैं, तब ,जैसे अर्जुन में हम देखते हैं, मानव-मन में युद्धों के कारण अपनी अखण्डता के खण्डित होने की आशंका पैदा होती है। अर्जुन के शस्त्र-संन्यास के पीछे दी गयी युक्तियों की मूल भित्ति अखण्डता-भंग का यह भय ही है। क्योंकि उसका कहना है:

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माःसनातनाः
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।

इन लोगों की बुद्धि लोभ से मारी गयी है, इसलिए ये कुलनाश के दोष और मित्रद्रोह के पाप को देख नहीं पा रहे हैं परन्तु हममें इतनी समझ क्यों न हो जो कुलक्षय के सम्भावित दोषों को जानते हैं? कुलक्षय में कुलधर्म नष्ट होते हैं: कुलधर्म के नष्ट होने पर सारे कुल में अधर्म छा जाता है।

यहाँ 'कुलधर्मों सहित कुल' निश्चित ही अखण्डता का प्रतीक है। कुल-परम्परा में हम स्पष्ट ही देखते हैं कि रीति-रिवाजों और रहन-सहन का एक प्रवाह, अखण्ड बहता चला जाता है। इसमें कहीं बाधा आती हो या यह खण्डित होता हो तो मन को लगता है धर्मनाश हो गया, अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता फैल गयी; उस ने जो उत्तुंग भवन निर्माण कर रखा था वही ध्वस्त हो गया। अर्जुन भी इस स्वजन-संहार में यही अव्यवस्था और यही धर्मनाश देखता है और *श्री कृष्ण* से कहता है:

उत्सन्न कुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।

हे जनार्दन, जिनके कुलधर्म नष्ट होते हैं, उनको अनियत काल तक नरकवास बताया गया है। अन्यान्य श्लोकों के समान इस श्लोक में भी अखण्डता का धारा

को अखण्डित रखने की मानव-मन की कातरता स्पष्ट है। मन का आश्वासन उसकी अविचलित अखण्डता में है, पक्ष-प्रतिपक्ष के दो बिन्दुओं के मध्य अनवरत दोलायमान रहनेवाली गतिशीलता में है। जब स्वजनों में अवस्थित ये आसक्ति-केन्द्र उच्छिन्न होने लगते हैं, तब फिर उसे आश्वासन रहा ही कहाँ ? मन के लिये यह अवस्था बिरकुल अधर्ममय ही लगेगी जहाँ कि सारी परम्पराएँ और प्रथाएँ नष्ट हो गयी हों।

मन अपनी पूर्व-परम्पराओं का ही प्रतिरूप होता है और मानव मन की वर्तमान गतिविधि का मूल उसके अतीत में होता है। मन अतीत से भविष्य की ओर अखण्ड कालगति के अक्षय प्रवाह में संचार करता है। यही वास्तव में उसका जीवन है और इसका प्रतिरोध ही उसकी वास्तविक मृत्यु है, जिसका मन को सर्वदा भय रहता है। अर्जुन मंजा हुआ योद्धा था। वह जानता था कि युद्ध का अर्थ विध्वंस है। लेकिन यहाँ अर्जुन सर्व-सामान्य युद्ध की बात नहीं कह रहा है। क्योंकि दूसरे युद्धों में विध्वंस के बावजूद अखण्डता भंग नहीं होती, परन्तु कुरुक्षेत्र का यह युद्ध उनसे भिन्न प्रकार का है। यहाँ तो बन्धु-बान्धव आपस में लड़ने के लिए उद्यत हैं। 'जिनके लिये राज्य सुख और भोग आदि की आकांक्षा की जाती है—'वे ही स्वजन युद्धरत हो रहे हैं, तो इस युद्ध का परिणाम केवल विध्वंस नहीं है, परन्तु अखण्डता की मूल धारा ही उसमें खण्डित हो जाती है। अर्जुन का यह संकेत मानव-मन के उस पहलू की ओर है जो प्रायः विकट संकट के समय अभिव्यक्त होता है।

मनुष्य का मन हर परिस्थिति में अपनी आसक्ति के क्षेत्र में अक्षुण्ण बने रहने का इच्छुक रहता है। भले ही उस दायरे के भीतर थोड़े बहुत सुधार संशोधन के लिए वह तैयार हो जाय, परन्तु उसके आमूल परिवर्तन या मूलोच्छेद के लिए वह कभी तैयार नहीं होता। आसक्ति-स्थान ही वे केंद्र हैं जहाँ से मन क्रियाशील होता है। आसक्ति के उन स्थानों को ही मिटा देने के लिए कहना उसके लिए आत्महत्या की बात है। निश्चित ही मन उसका प्रतिरोध करेगा और यही प्रतिरोध अर्जुन की उन युक्तियों में हम पाते हैं जिन के आधार पर वह युद्ध के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट कर रहा है। कुरुक्षेत्र का युद्ध मानव-जीवन के मूलभूत मानसिक परिवर्तन या आन्तरिक उत्क्रान्ति का प्रतीक है, क्योंकि आसक्ति के क्षेत्र में साधारण सुधार और संशोधन सुझाना उसका आशय नहीं है, बल्कि उसका मूल लक्ष्य उन केन्द्रों को मिटा देना

ही है, जहाँ से मन प्रतिक्रियाओं की अनन्त शृंखला में आबद्ध होता है। यह देख कर ही अर्जुन स्वजन-हत्या से पराङ्मुख होता है, रणभूमि से भाग खड़ा होता है।

अर्जुन के इस विषाद में मानव-मन का बड़ा रोचक चित्र सामने आता है। मन अपनी आधारभूमि के सम्भावित उच्छेद के भय से आश्वस्त होने के लिए संन्यास की आड़ लेकर, सच्चरित्रता और पवित्रता की दुहाई देकर उन आसक्ति-केन्द्रों का बचाव करने का प्रयत्न करता है, जहां से वह अपना सारा क्रियाकलाप जारी रख सकता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में मन स्पष्ट भाँप लेता है कि अब अपने थके-हारे पैर टिकाने को कोई स्थान रहनेवाला नहीं है, अतीत के संस्कारों और रूढ़ियों को थामे रहने की कोई गुंजाइश नहीं रहेगी, बल्कि स्वयं जड़मूल से मिट जाने को तैयार होना पड़ेगा। अर्जुन की इस मनःस्थिति का बड़ा मार्मिक चित्रण प्रथम अध्याय के अन्तिम श्लोक में मिलता है। कहा है :

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः

—'अर्जुन युद्धभूमि में यह सब कह कर, शोकाकुल मन से धनुष-बाण फेंक कर रथ के पास नीचे बैठ गया।'

धनुष-बाण का विसर्जन अर्जुन की युद्ध के प्रति अनिच्छा प्रकट करता है। अपने जीवन-संग्राम में क्या हम भी यही नहीं करते हैं? मनुष्य का मन सर्वदा वस्तुस्थिति को टालने का और वास्तविकताओं से बार-बार बच कर भागने का ही प्रयत्न करता है। परन्तु जब उसके सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं, भागने के सभी रास्ते बन्द हो जाते हैं और टाल जाना असम्भव हो जाता है, तब कठोर वास्तविकता का सामना करने को विवश होता है। शत्रु के आक्रमण से डर कर जिस प्रकार शुतुर्मुर्ग रेत में अपना सिर गाड़ लेता है और मान लेता है कि अब मैं सुरक्षित हूँ, उसी प्रकार मनुष्य का मन भी वस्तुस्थिति से बचने का मार्ग न पा कर आँखें बन्द कर लेता है और चूंकि वह स्वयं समस्या को देख नहीं रहा है, इसलिए मान लेता है कि समस्या खतम हो गयी। इस अवस्था में भी मन पलायन का ही प्रयत्न करता है। मन सोचता है कि संन्यास या अप्रतीकार का स्वांग लेकर जीवन को छला जा सकता है और इस प्रकार मन को विचलित किये बिना सुचारु रूप से जीवन चलाना सम्भव हो

जायेगा, उसकी अखण्डता अबाध रूप से बनी रहेगी। लेकिन जीवन बड़ा निष्ठुर होता है, निर्मम होकर अपने ही ढंग से चलता है—भले ही मनुष्य उसे स्वीकार करे या न करे। मनुष्य यदि वैश्विक संकल्प में ही अपने संकल्प देख सके, विश्वसंकल्प के अनुरूप चलने में ही अपनी पूर्णता देख सके, तब उस का जीवन अनिर्वचनीय आनन्द की ओर अग्रसर होगा। परन्तु यदि वह वैश्विक संकल्प के प्रतिकूल चलने का प्रयत्न करे या उसकी अवहेलना करे, तब तो उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय होगी, क्योंकि जीवन की वास्तविकता उसे घर दबोचेगी, उसके सारे मोहस्थान और आसक्ति केन्द्र छिन जायेंगे जिनसे वह जोरों से चिपका हुआ है। ऐसे मनुष्य के जीवन की परिणति का यथातथ चित्रण गीता में ग्यारहवें अध्याय के ३२ वें श्लोक में किया गया है। विराट पुरुष कहता है

> कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः
> ऋतेऽपित्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषुयोधाः।

'मैं वह काल हूं जो लोकक्षयकारी और प्रवृद्ध है जो यहाँ सकल लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त है। शत्रुसेना में जितने भी योद्धा युद्धसन्नद्ध खड़े हैं, वे सब, हे अर्जुन, तेरे बिना भी नष्ट होने ही वाले हैं।'

यदि अर्जुन कुरुक्षेत्र के युद्ध में भाग न लेने का निर्णय कर चुका है, तो उसके यों विषण्ण होने का क्या कारण है? यदि उसने धनुष-बाण तज दिये तो फिर यह ग्लानि और शोकावेग क्यों? इसका कारण यह है कि उसकी इस युद्धविरति के पीछे जीवन का सम्यक् परिज्ञान उतना नहीं है, जितना भय है। अखण्डता का भंग होते हुए और आसक्ति के केन्द्रों को उछिन्न होते हुए देख कर वह भयाक्रान्त हो गया है। भयग्रस्त मन अपने सभी कर्मों में भ्रान्त होता ही है। केवल भय से ही जो निर्णय होता है वह विवेकपूर्ण नहीं होता। मन जब मुक्त और स्वतन्त्र होकर विवेक करने में असमर्थ हो जाता है, तब वह निश्चित ही ग्लानि और निराशा का शिकार होता है। अपने निर्णय के औचित्य और उपयुक्तता के प्रति शंकालु और सम्मूढ़ हो जाता है। अर्जुन ने अपने निर्णय के समर्थन में बड़ा ही कुशल और चतुर युक्तिवाद प्रस्तुत किया। परन्तु वह जितना-जितना समर्थन करता जाता है, उतना-उतना दिङ्मूढ़ भी होता जाता है। इसीलिए दूसरे अध्याय के ७ वें श्लोक में अर्जुन श्री कृष्ण से कहता है :

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।

'मैं दीन बन गया हूँ, मेरा चित्त धर्म-सम्मूढ हो गया है। आप निश्चित मुझे बताइए कि मेरा श्रेय किसमें है। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण आया हूँ। मुझे मार्ग दिखाइए।'

अर्जुन श्री कृष्ण से 'निश्चित बताने' के लिए कह रहा है, क्योंकि वह दिग्भ्रान्त अवस्था में है। अर्जुन में जो ग्लानि है वह इसी अनिर्णय की अवस्था के कारण है। मन जब समुचित निर्णय कर नहीं पाता तब उसे ग्लानि अवश्य होती है, वह तनाव का अनुभव करता है। अर्जुन की जो स्थिति है वही आज के अधिकांश लोगों की स्थिति है। दिग्भ्रम और किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में मनुष्य सही निर्णय नहीं कर पाता है। निर्णय करने को बाध्य करनेवाली परिस्थिति को वह टालना चाहता है, उनसे भागना चाहता है। इसके लिए आज मनुष्य ने नाना प्रकार के मनोविनोद की, दिल-बहलाव की विशाल अट्टालिकाएँ कोने-कोने में खड़ी कर ली हैं जहाँ भाग कर वह छिप सकता है। परन्तु इस प्रकार के पलायन से उस का अभीष्ट सिद्ध नहीं हो पाता, वह जितना-जितना सुख-सुविधाओं और भोग-विलासों में अपना जी बहलाने का प्रयत्न करता जाता है, उतना ही उनका निर्णय की समस्या उस पर हावी होती जाती है। जिस प्रकार अर्जुन दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कर दिये जाने पर सही निर्णय करने में असमर्थ रह गया था, उसी प्रकार मनुष्य अपने नित्य जीवन-संग्राम में सही निर्णय करने में असमर्थ हो जाता है। भगवद्गीता जीवन के इसी महत्वपूर्ण पहलू पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करती है।

गीता के महान् तत्त्व को और उस की शिक्षा को ठीक से समझने के लिए आवश्यक मनोभूमिका यह प्रथम अध्याय प्रस्तुत करता है। मनुष्य अपनी समस्याओं को ठीक से देख सके, उनका निःसन्दिग्ध और सुस्पष्ट विश्लेषण कर सके और मन की निरर्थक युक्तियों और दलीलों को जान सके, तो निश्चित ही समस्याओं के समाधान की दिशा में एक कदम बढा माना जायेगा। अर्जुन का विषाद निश्चित ही आधुनिक मानव की इस अन्तर्ग्लानि और दिङ्मूढता का ही प्रतिरूप है।

द्वितीय अध्याय

आन्तरिक समन्वय

भगवद्गीता का द्वितीय अध्याय अन्वाद्य है। उसमें गीता का सार सर्वस्व आ गया है। कुछ विद्वानों का मानना है कि गीता में सामंजस्य और संगति नहीं है, क्योंकि उसके अध्यायों में परस्पर अनुबन्ध नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। अधिकाश विद्वान् जानते हैं कि गीता में जो जीवनादर्श प्रस्तुत किया गया है वह एक-एक अध्याय में क्रमशः स्पष्ट होते-होते अन्तिम, अठारहवें अध्याय में जाकर परिपूर्ण होता है। गीता के अध्यायों में परस्पर संगति इतनी समीचीन है कि उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय समग्र और सुव्यवस्थित रूप से प्रकट होता है।

तब प्रश्न यह उठ सकता है कि यदि गीता का प्रतिपाद्य विषय क्रमशः विकसित होता गया है, तो फिर द्वितीय अध्याय में ही ग्रन्थ का सार-सर्वस्व देने का क्या हेतु है। लेकिन यह तो गौरीशंकर के महोन्नत शिखर को अंगुलि-निर्देश करके दिखाने जैसा है; इस अध्याय में गीता की भव्य महिमा का मात्र निर्देश है। परन्तु अर्जुन की बुद्धि मोहग्रस्त है, इसलिए परिज्ञान-शून्य है। और हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण अर्जुन की बुद्धि के मोह-निरसन में तब तक अपनी सहायता देता जाता है जब अन्त में जाकर उसके मुँह से यह उद्गार निकलता है :

> नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत
> स्थितोऽस्मि गतसन्देहः— ।

—'हे अच्युत, तुम्हारे अनुग्रह से मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे स्मृति उपलब्ध हुई है। अब मैं निःशंक हुआ हूँ, मेरी सारी शंकाएँ मिट गयी हैं।' यह द्वितीय अध्याय हमारे सामने जीवन का जो महान् और भव्य चित्र प्रस्तुत करता है, अन्य अध्याय उसी चित्र को साकार करने की कार्यसरणि प्रस्तुत करते है, जीवन के परम आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण ने यहाँ जिस उत्तुंग शिखर का दर्शन कराया है वहाँ तक पहुँचाने का मार्ग वे दिखाते हैं।

प्रथम अध्याय के विवेचन में हमने देखा कि शस्त्रत्याग करते हुए अर्जुन ने श्रीकृष्ण के सामने कई प्रकार की शास्त्र युक्तियाँ प्रस्तुत की कि स्वजनसंहार से वंश खण्डित होगा और उसमें कई प्रकार की हानि होनेवाली है, आदि। श्रीकृष्ण मँजे हुए गुरु थे। उन्होंने अर्जुन की सारी बातें धीरज के साथ सुनी। उसकी बातें समाप्त होने ही अपनी बात आरम्भ करने से पहले श्रीकृष्ण एक बार हँसते हैं—"प्रहसन्निव"। श्रीकृष्ण अर्जुन की बातों पर चिढ़े नहीं, झुँझलाये नहीं, बल्कि मुस्कुराये। डा॰ राधाकृष्णन् गीता की अपनी व्याख्या में लिखते हैं कि 'श्रीकृष्ण के इस हँसने से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अर्जुन की बातों को कोरा युक्तिवाद माना, उसके चित्त की व्याकुलता का सूचक माना।' लेकिन यहाँ श्रीकृष्ण की इस हँसी में अर्जुन के युक्तिवाद का मात्र उपहास ही नहीं है, शायद कुछ अधिक अर्थ निहित है; उनके मन में अपने आप्त शिष्य के प्रति, जो इस समय मोह और विक्षेप के भँवर में फँसा हुआ है, कुछ विशेष करुणा का भाव भी निहित है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—:

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।

—'तुम ऐसों के लिए शोक कर रहे हो जिनके लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है। तिस पर तुम प्रज्ञावाद कर रहे हो, बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें कर रहे हो। जो ज्ञानी हैं, वे न मृतों के लिए शोक करते हैं, न जीवितों के लिए।'

मनुष्य की बुद्धि युक्तियाँ खोज निकालने में और तर्क वितर्क करने में बड़ी कुशल होती है उसके तरकश में सबसे बड़ा शस्त्र है—शब्द-विन्यास। बुद्धि जानती है कि किस अवसर पर किस प्रकार के शब्द सजाने होते हैं उसकी शाब्दिक युक्तियों की शृंखला का कहीं अन्त नहीं है। अधिकतर लोग बुद्धि की इन युक्तियों और दलीलों के प्रभाव में आ जाते हैं क्योंकि ये युक्तियाँ तार्किक सिद्धान्तों और परम्परागत रूढ़ियों के अनुरूप होने के कारण बड़ी सशक्त-सी और अकाट्य-सी होती हैं। परन्तु श्रीकृष्ण की अन्तर्दृष्टि इतनी पैनी और सूक्ष्म थी कि अर्जुन के सारे चतुर युक्तिवाद को उन्होंने पचा लिया। इसीलिए श्रीकृष्ण मुस्कुराते हुए समझाते हैं कि वह जो ज्ञान की बात शब्दों से प्रकट कर रहा है, उसकी कृति उस ज्ञान की बात के बिलकुल विपरीत है।

अर्जुन के शोक का वास्तविक कारण क्या था? प्रथम अध्याय में हमने

देखा कि अर्जुन के विषाद का प्रमुख कारण अखण्डता के खण्डित होने का भय ही था, जो कि कुरुक्षेत्र में युद्ध-सन्नद्ध स्वजनों के संहार से निश्चितप्राय था। मानव-मन के लिए अखण्डता का खण्डित होना उसकी साक्षात् मृत्यु ही है। इसलिए मनुष्य तब तक मृत्युभय से मुक्त नहीं होगा, जब तक वह अपने मर्यादित चित्त के दायरे में ही सीमित रहेगा। यहाँ अर्जुन वास्तव में मृत्यु का ही भय व्यक्त कर रहा है, भले ही उसे सुन्दर से सुन्दर युक्तियों का जामा क्यों न पहनाया हो। कुरुक्षेत्र के मैदान में अपने बन्धु-बान्धवों का संहार न करने के बदले में वह शेष सर्वस्व छोड़ देने को तैयार है। इस त्याग और वैराग्य के पीछे मृत्यु की अखण्डता के खण्डित हो जाने की भीति ही थी और उसी से अर्जुन का मन व्याकुल था-यह श्रीकृष्ण ने पहचान लिया। अर्जुन की व्याकुलता के प्रति समवेदना प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण उसके सामने यह स्पष्ट कर रहे हैं कि उसके प्रबुद्ध वचनों और मूढ़ व्यवहारों में किस प्रकार विसंगति है इसी बात के लिए उसे झिड़की भी देते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण ने अर्जुन के व्यवहार को 'मूढ़' कहा है, क्योंकि 'जो शोचनीय नहीं है उसके लिए शोक करने में कोई बुद्धिमानी नहीं है।' तो, शोचनीय कौन नहीं है श्रीकृष्ण कहते हैं —"ज्ञानी न मृतों के लिए शोक करते हैं, न जीवितों के लिए।' सामान्यतः लोग मरने वालों के लिए दुःख करते हैं, जीवित के लिए नहीं। यह अजीब बात है कि श्री कृष्ण इस शोक के प्रसंग में मृत के साथ जीवित का भी उल्लेख कर रहे हैं तो देखना यह है कि यहाँ जीवितों के उल्लेख का रहस्य क्या है।

मृत्यु के साथ यह प्रश्न जुड़ा हुआ है कि मृत्यु के बाद हमारा अस्तित्व रहेगा या नहीं? मरने के बाद की स्थिति क्या है? क्या हमारा अस्तित्व नित्य है, अखण्ड है? अगर अखण्ड है तो उस अखण्डता का स्वरूप क्या है?' इस प्रकार, मृत्यु के बाद के अस्तित्व के प्रश्न के अलावा दूसरा एक प्रश्न यह है कि मरनेवाले का वियोग पीछे जिन्दा रहनेवालों को सहना पड़ता है। भले ही यह सिद्ध हो जाय कि मृत्यु के पश्चात् भी जीवन का अस्तित्व रहनेवाला है, तो भी उससे इस वियोग की समस्या का समाधान नहीं होता। वियोग की समस्या अनित्यता की समस्या है और वह मृत्यु से उत्पन्न होती है। आप्तजन की मृत्यु के कारण जीवन में एक सूनापन पैदा हो जाता है जो किसी तरह भर नहीं जा सकता; मृत्यु के पश्चात् जीवन के अस्तित्व का आश्वासन दे कर भी उस क्षति की पूर्ति नहीं की जा सकती। इस कारण जीवित मनुष्य मृत्यु के द्वारा

अपनी नित्यता या अखण्डता को खण्डित होता हुआ महसूस करता है। इस प्रकार मृत्यु से दो प्रश्न सामने आते हैं: एक नित्यता का प्रश्न; और दूसरा अनित्यता का प्रश्न। नित्यता का प्रश्न मृत व्यक्ति से, और अनित्यता का प्रश्न जीवित व्यक्ति से सम्बंधित है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'ज्ञानी न मृत के लिए शोक करते हैं, न जीवित के लिए।' इस कथन से यह होता है कि ज्ञानी मृत्यु की समस्या से पूरी तरह अवगत हैं, उन्हें नित्यता और अनित्यता दोनों प्रश्नों का ज्ञान है और इसलिए वे सभी शोकों से पूर्णतया मुक्त हैं। अर्जुन का शोक तात्कालिक है, वह सहसा शोकाकुल हुआ है क्योंकि उसे अभी मृत्यु की सारी समस्या को समग्र रूप से जानना बाकी है। क्या यह भी मानव-मन की प्रमुख और बुनियादी समस्याओं में एक नहीं है? यदि नित्यता का महत्त्व और अनित्यता का रहस्य मालूम हो जाय तो जीवन का वास्तविक अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होगी। गीता के इस दूसरे अध्याय में जीवन के भव्य आदर्श का सुन्दर निर्वचन करते हुए श्रीकृष्ण इसी मृत्यु की समस्या को ले रहे हैं, जिस में नित्यता और अनित्यता के दोनों तत्त्व निहित हैं।

गीता के प्रमुख तत्त्वज्ञान का आरम्भ इन्हीं दो मुख्य सिद्धान्तों के विवेचन से होता है—मृत्यु की अनिवार्यता और जन्म-शृंखला के रूप में जीवन की नित्यता अर्थात् मृत्यु और पुनर्जन्म। अर्जुन के भय का कारण क्या था? क्या वह यह मानता था कि इन योद्धाओं का संहार करने से उनका जीवन वहीं *समाप्त हो जायेगा? यदि मृत्यु ही मानव का अन्त है, तो अर्जुन भीष्म, द्रोण* आदि पूज्य गुरुजनों की हत्या करने की बात सोच ही कैसे सकता था? इन्हीं सारे प्रश्नों के कारण अर्जुन रणक्षेत्र में व्यग्र हो गया, विक्षिप्त हो उठा। श्रीकृष्ण ने मृत्यु और जीवन के दोनों महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को खोल कर समझाने में और अर्जुन का समाधान कराने में लेशमात्र भी कसर उठा नहीं रखी।

आज तक गीता के असंख्य भाष्य हुए हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार गीता ज्ञानयोग-प्रधान ग्रन्थ है; कुछ लोग इसे कर्मयोग-विषयक ग्रन्थ मानते हैं तो भक्त लोग इसे भक्तियोग का प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। इसमें कोई शंका नहीं कि गीता में इन सभी विभिन्न मतों के समर्थक और अनुकूल वचन मिलते हैं, फिर भी वस्तुतः देखा जाय तो गीता "पूर्णयोग" (Yoga of Integration) का प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ है। गीता के विवेचन का मूल विषय मानव की पूर्णता है, *उसकी समग्रता है।* कहने की आवश्यकता

नहीं है कि मानव को पूर्णता तक पहुँचने में इन तीनों मार्गों से—ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्गों से—होकर ही प्रवास करना होगा। ऐसे पूर्ण मनुष्य को, जिसके जीवन में ज्ञान कर्म और भक्ति तीनों का सुन्दर समन्वय हुआ हो, गीता ने 'युक्त' नाम दिया है।

इस दूसरे अध्याय ने गीता की इस पूर्णता-प्रधान जीवन-दृष्टि को जिस कुशलता के साथ प्रस्तुत किया है, वह बड़ा ही भव्य है। कृष्ण ने अर्जुन के विषाद का विवेचन ज्ञान-प्रक्रिया से आरम्भ किया है। इस ज्ञान-प्रक्रिया को गीता 'सांख्य' कहती है। गीता में सांख्य शब्द का प्रयोग ज्ञान मार्ग के अर्थ में किया गया है। इस अध्याय का प्रारम्भ सांख्य-मार्ग से हुआ है, तो इसका उत्तरार्द्ध योग-मार्ग का विवेचन करनेवाला है। यहाँ यह योग शब्द कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पतंजलि के योगदर्शन में उल्लिखित योग के अर्थ में नहीं। सांख्य और योग का उपदेश करनेवाले इन श्लोकों में कुछ श्लोक ऐसे हैं जो अर्जुन को उसके कर्तव्य-कर्म का बोध करानेवाले हैं। कर्तव्य कर्म को गीता 'स्वधर्म' कहती है। स्वधर्म का अर्थ है स्वभावानुकूल कर्म, अन्त:प्रकृति के अनुरूप सहज, प्रवाहप्राप्त कर्म। श्रीकृष्ण अर्जुन को सर्वभावेन स्वधर्म को धारण करने को कहते हैं, उसे सचेत करते हैं कि वह अपने स्वधर्म की अवहेलना न करे स्वभाव-नियत आदेशों का उल्लंघन न करे। श्रीशंकराचार्य ने विवेकचूड़ामणि में भक्ति का विवेचन करते हुए यही कहा है कि अपने स्वरूप का अनुसंधान ही भक्ति कहलाती है'—स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते। यहाँ अर्जुन को उसके स्वभावानुरूप कर्तव्यकर्म का बोध करानेवाले श्लोकों का भाव भक्तिमय ही है। इस प्रकार इस अध्याय में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का समग्र और समन्वित रूप स्पष्ट हुआ है जो कि पूरी भगवद्गीता का ही सारतत्त्व है।

ऊपर हम देख आये हैं कि अर्जुन के विषाद का कारण यह है कि उसे कुरुक्षेत्र के युद्ध के परिणाम स्वरूप सम्भावित मृत्यु और अनित्यता ने भय ने घेर लिया है। इसीलिए श्रीकृष्ण सांख्य-मार्ग से बोध देने के प्रसंग में इन्हीं दो प्रश्नों का विस्तृत विवेचन करते हैं। श्रीकृष्ण समझा रहे हैं—

> जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च
> तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।

जो जनमा है उसका मरण निश्चित है, और जो मरते हैं उनका जन्म निश्चित है। इसलिए इस अवश्यम्भावी घटना के लिए शोक करने का कोई कारण नहीं है।'

मृत्यु एक ऐसी चीज है जिसे हम न तो टाल सकते हैं न स्थगित कर सकते हैं। यह अपरिहार्य है। यही मान कर चलना है। दूसरे शब्दों में, मृत्यु जीवन का अटल तथ्य है। चूँकि यह अपरिवर्तनीय है इसलिए उसके लिए शोक करना निरर्थक है। श्रीकृष्ण यहाँ व्यक्त सृष्टिमात्र के मूलभूत और परम सारतत्त्व की ओर निर्देश कर रहे हैं। कहते हैं: 'जो भी जनमा है उसे मरना ही है।' जिसका आदि है, उसका अन्त भी है ही। यह ऐसा तथ्य है जिससे इनकार नहीं किया जा सकता। बौद्धिक स्वीकृति और प्रत्यक्ष अनुभूति दोनों दो भिन्न वस्तुएँ हैं। अधिकांश लोग बौद्धिक धरातल पर मृत्यु की अपरिहार्यता को समझ सकते हैं, परन्तु उसे एक अपरिवर्तनीय तथ्य के रूप में देखनेवाले और उसकी अनुभूति करनेवाले विरल हैं। जो इस रूप में उसे देख सकते हैं वे ही सच्चे ज्ञानी हैं और मृत्यु के शोक से मुक्त हैं।

जहाँ श्रीकृष्ण देह की नश्वरता और अनित्यता का वर्णन करते हैं वहीं मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म की भी बात करते हैं। इसी पुनर्जन्म के सिद्धान्त के द्वारा श्रीकृष्ण मृत्यु की अपरिहार्यता के बावजूद अस्तित्व की नित्यता का, जीवन की अखण्डता का प्रतिपादन कर रहे हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं:

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।

—'यह बात नहीं है कि तुम, मैं या ये सब राजा पहले कभी न थे या आगे कभी न होंगे। हम सब पहले भी थे, आगे भी होंगे, हमेशा रहनेवाले हैं। जैसे कोई अपना फटा कपड़ा उतार फेंकता है और नया पहनता है, वैसे आत्मा भी अपना एक शरीर का आवरण छोड़ कर दूसरा ग्रहण करता है।'

मानव-मन मृत्यु की समस्या को समझने का चिरन्तन काल से प्रयत्न करता

आ रहा है। लेकिन वह नित्यता के चौखटे में ही मृत्यु को व्याख्या कर पाया है। इसलिए मृत्यु को वह मरणोत्तर जीवन तथा पुनर्जन्म की भाषा में ही ग्रहण कर सकता है। इससे विपरीत कोई, भी कल्पना मानव-मन को सर्वथा अप्रिय और अग्राह्य होता है। नित्यता को चाहे मरणोत्तर स्थिति के रूप में मानें, चाहे पुनर्जन्म के रूप में, लेकिन मृत्यु का रहस्य तब तक अगोचर और अग्राह्य ही रहनेवाला है जब तक वह नित्यता या अखण्डता के दायरे में ही उसे समझने का प्रयत्न करता रहेगा।

अर्जुन के मन में पुनर्जन्म का विचार दृढ़मूल हो गया था, क्योंकि सदियों से हिन्दू विचार-परम्परा का वह एक अविभाज्य अंग रहा है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त यद्यपि बुद्धिसंगत है, फिर भी उतने से मानव के हृदय का पूरा समाधान नहीं होता है। मरणोत्तर दशा और पुनर्जन्म के विचारों से भले ही मृत व्यक्ति के प्रति दुःखावेग कुछ घट जाय, परन्तु जो रह गये हैं उनके दुःख को और उनकी वियोग-भावना को निश्चित ही वह विचार मिटा नहीं सकता। मूलतः मृत्यु अनित्यता का प्रश्न है, इसलिए वह नित्यता की परिभाषा में—चाहे वह कितना ही तर्कशुद्ध और युक्तिसंगत क्यों न हो—सहज ग्राह्य नहीं हो पाता है। भगवद्गीता के इस दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण मृत्यु की जो मीमांसा कर रहे हैं: उसमें इन अनित्यता या भंगुरता के पहलू को जितना प्राधान्य है, उतना पुनर्जन्ममूलक नित्यता के पहलू को नहीं है।

प्रश्न उठ सकता है कि दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण का इस प्रकार का वचन है कहाँ, जिसमें अनित्यता के पहलू से मृत्यु का विश्लेषण है? यह सही है कि इस अध्याय में अनित्यता की, नित्यता के खण्डित होने की स्पष्ट चर्चा कहीं नहीं है, परन्तु दूसरे कुछ शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका पूरा-पूरा अर्थ और महत्व हम तभी समझ पायेंगे जब मृत्यु को नित्यता की परिभाषा में नहीं, अनित्यता के अर्थ में ग्रहण करेंगे। मृत्यु का विश्लेषण करते हुए श्रीकृष्ण अव्यय और सनातन तत्त्व की ही विशेष चर्चा करते हैं, जन्म और मृत्यु के चक्र में फँसे हुए क्षयिष्णु और परिवर्तनशील तत्त्व की नहीं। वे आत्मा की अमरता पर ही विशेष बल देते हैं, जो ठीक ही है। यह समझ लेने की बात है कि नित्यता और अमरता समानार्थक शब्द नहीं हैं, बल्कि अस्तित्व के सर्वथा भिन्न दो तत्त्वों का निर्देश करनेवाले शब्द हैं। एक का सम्बन्ध कालगति से है, और दूसरा कालातीत है। अमर और नित्य तत्त्वों का अन्तर समझने के लिए 'अनन्त'

और 'स्थायी' का भेद समझना होगा। स्थायी से कालवशता का, कालगत अनुस्यूति का बोध होता है और अनन्त तो कालातीत है। जो काल-मर्यादा के अन्तर्गत है वह सादि है, इसलिए सान्त भी है। जो नित्य है, वह चूँकि सृष्टि का ही अंग है, इसलिए उसका विस्तार हो सकता है और इसीलिए वह नश्वर भी होता है। जो भी व्यक्त है वह सब नश्वर है और इसलिए कालगति की मर्यादा में आवद्ध है। अतः किसी भी व्यक्त पदार्थ को अमरता की बात करना सर्वथा अर्थहीन है। नित्यता के क्षेत्र में अमरता असम्भव है, बल्कि वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ नित्यता समाप्त होती है, वहीं अमरता का बोध आरम्भ होता है। नित्यता की सीमा में मर्यादित मानव मन कभी समझ नहीं सकेगा कि अमरता क्या है। मरणोत्तर दशा और पुनर्जन्म नित्यता की बात करते हैं जबकि एक मात्र मृत्यु का ही क्षण है जो कि अमरता का रहस्य उद्घाटित करता है, क्योंकि मृत्यु का क्षण ही वास्तव में अनित्यता और भंगुरता के भान का क्षण है। इसलिए नित्यता की भाषा चाहे जितनी सूक्ष्म और मँजी हुई क्यों न हो, वह मृत्यु का वास्तविक अर्थ व्यक्त नहीं कर सकती। जब श्रीकृष्ण ने देखा कि अर्जुन स्वजन-संहार के परिणाम के बारे में मोहग्रस्त हुआ है, उस की बुद्धि विक्षिप्त हुई है, तब वे कहते हैं :

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।

जो उसे हन्ता-मारनेवाला समझता है, और जो उसे हत-मारा गया समझता है, दोनों अज्ञानी हैं। वे जानते नहीं कि वह न हनन करनेवाला है, न उसका हनन किया जा सकता है।'

यहाँ श्री कृष्ण ने हन्ता और हन्यमान का सारा रहस्य खोल कर रख दिया है। यहाँ वह आत्मा को अमरता दर्शा रहे हैं। पुनर्जन्म के सन्दर्भ में इस श्लोक का निश्चित ही कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि पुनर्जन्म उसी का होता है जो मरता है। तो इस श्लोक में श्रीकृष्ण कहना क्या चाहते हैं? इसका उत्तर इसी अध्याय के २० वें श्लोक में मिलता है। श्लोक यह है—:

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

आत्मा न जन्म लेता है न मरता है, ऐसा समय नहीं है जब यह न रहा हो इसका अन्त और इसका आदि दोनों स्वप्न हैं। यह अजन्मा है, मृत्यु रहित है, अपरिवर्तन है; अपरिवर्तनीय है, शाश्वत है। इसका यह धाम, यह शरीर भले ही मर जाय, परन्तु इसे मृत्यु का स्पर्श नहीं होता।'

मृत्यु के मध्य मृत्युरहितता—यही तो इस श्लोक की घोषणा है। कुछ तो है जो मृत्यु से सर्वथा अस्पृष्ट है, भले ही उस 'कुछ' का घर मृत्यु की आग में जल कर खाक हो जाय। यह 'कुछ' ही है जो वस्तुतः अमर है, क्योंकि मृत्यु उसे जकड़ नहीं सकती। परन्तु यह 'कुछ' अजन्मा है और इसीलिए मृत्यु रहित है मानव का आत्मा अमर है, और इसीलिए सनातन काल से यह अजन्मा है, और अव्यक्त है। यदि इस अजन्मा से अनुबन्ध स्थापित किया जा सकता है, तो मृत्यु के क्षण में ही किया जा सकता है। श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर ठीक ही कहते हैं: 'मनुष्य अमर है, इसलिए उसे अन्तहीन मृत्यु पानी है।' अमरता के रहस्य को मनुष्य निरयता में नहीं अन्तहीन मृत्यु की स्थिति में ही समझ सकता है। इसी अमरता के रहस्य की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं:

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।

—'शस्त्र इसका छेदन नहीं कर सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकता, जल इसे भिगा नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकता; यह अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है। यह अनन्त है, सर्वव्यापी है, अविकारी और अचल है। यह सनातन है और सदा यही है। यह अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार कहलाता है। इसलिए इस का यह स्वरूप जान कर तुम शोक करना छोड़ो।'

आत्मा अव्यक्त है, इसलिए अचिन्त्य है; क्योंकि मन का संचार व्यक्त-विषयक विचार-भूमि में ही सम्भव है। अव्यक्त तत्त्व विचार के क्षेत्र से बाहर है। अव्यक्त के कोई अलग-अलग अंग या भाग नहीं होते कि मन एक

के बाद एक का परीक्षण कर सके। अव्यक्त समग्र होता है, पूर्ण होता है—वह पूर्ण, जो विभिन्न अवयवों का बना समुदाय नहीं, परन्तु वह, जो समस्त अवयवों के समुच्चय से परे है, अवयवमात्र से परे है। इसलिए अव्यक्त का बोध पूर्ण रूप में ही हो सकता है। बुद्धि उसे अपनी विचार-प्रक्रिया द्वारा ग्रहण नहीं कर सकती, फिर वह बुद्धि चाहे जितनी सूक्ष्म और गूढ़ क्यों न हो उसका साक्षात्कार तो *उस मृत्यु के क्षण में ही हो सकता है* जब कि अजन्मा और अव्यक्त के बोध के साथ व्यक्त का अन्तिम आवरण भी विदीर्ण हो जाता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'उसका यह स्वरूप जानकर तुम शोक करना छोड़ो।' श्रीकृष्ण चाहते हैं कि यदि अर्जुन मृत्यु का रहस्य जानना चाहता है, तो उस अजन्मा, अव्यक्त का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करे। इसमें यह स्पष्ट संकेत है कि मृत्यु को नित्यता के दायरे में स्थायित्व के चौखटे में रख कर देखना नहीं है बल्कि भंगुरता या अनित्यता के अन्तराल में देखना है, क्योंकि वहीं मृत्यु का रहस्य छिपा हुआ है। श्रीकृष्ण कहते हैं—:

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।

—'भूतमात्र का आदि अव्यक्त है, मध्य अवश्य व्यक्त है, और फिर हे भारत, उन का अन्त भी उसी तरह अव्यक्त है। तब शोक के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है?'

जब कि पदार्थमात्र का मूल स्वरूप अव्यक्त में है, तब व्यक्त के अदृश्य होने से ही दुःख और शोक कोई क्यों करे? व्यक्त तो एक अंश है, क्षणिक है; अव्यक्त है सो पूर्ण है, नाशरहित है। तो, *जब मनुष्य उस अव्यक्त से पूर्ण होता है,* एकरूप होता है तब उसके लिए मृत्यु को समस्या समाप्त हो जाती है। यही गीता की शिक्षा है। अर्जुन का विषाद यथार्थ नहीं है, क्योंकि वह विनाशशील व्यक्त के प्रवाह-सातत्य की कामना कर रहा है। वह तो सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यक्त हमेशा क्षयिष्णु और विनाशी है। और व्यक्त के विनाश में ही अव्यक्त गोचर होता है, और वह अव्यक्त कभी नष्ट नहीं होता, क्योंकि वह शाश्वत है, कालातीत है।

भगवद्गीता कहती है कि उस कालरहित तत्त्व के बोध से मनुष्य को विलक्षण अनुभूति की क्षमता प्राप्त होती है जो कि कालमर्यादा से बाधित

नहीं होती। उस कलातीत अनुभूति के साथ ही कालगत समस्त क्रियाओं और कर्मों की बन्धनशीलता नष्ट हो जाती है। कर्म निर्दोष हो जाते हैं। इसीलिए अर्जुन को सांख्यमार्ग अर्थात् सम्यक ज्ञान (राइट परसेप्शन) समझाने के बाद ही श्रीकृष्ण योगमार्ग अर्थात् सम्यक कर्म (राइट ऐक्शन) समझाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं :

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।

'अब तक जो कहा वह सांख्य के अनुसार कहा, अब योग के अनुसार सुनो, जिस के ज्ञान से युक्त हो कर हे पार्थ, समस्त कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाओगे।

स्मरण रहे कि योग बुद्धि सांख्यबुद्धि से अलग नहीं है, असम्पृक्त नहीं है। ये दोनों सर्वथा असम्बद्ध, भिन्न-भिन्न दो मार्ग नहीं हैं। वस्तुतः जैसे गीता के पंचम अध्याय के चौथे श्लोक में स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं :—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

बालक हैं जो सांख्य और योग को पृथक मानते हैं, पण्डित नहीं।' इस प्रकार सांख्य को हम सम्यक ज्ञान और योग को सम्यक कर्म कह सकते है। जहाँ सम्यक ज्ञान है; उससे निःसृत होनेवाला प्रत्येक कर्म बन्धमुक्त ही होना चाहिए। तो, कर्म का यह चमत्कार कैसा होता होगा ?

देखना यह है कि वस्तुतः सम्यक् ज्ञान क्या है ? यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जो बुद्धि विक्षिप्त है, विमूढ है, उसे पदार्थ का सही ज्ञान नहीं हो सकता। पदार्थ के सही ज्ञान के लिए जो अनिवार्य योग्यता है, वह है निर्भ्रान्त बुद्धि, अव्याकुल मन। मन की इस अव्याकुल स्थिति को गीता व्यवसायात्मिका बुद्धि, कहती है, यानी वह बुद्धि जो सुनिश्चित है, सुस्थिर है। द्वितीय अध्याय के ४१ वें श्लोक में गीता कहती है :—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।

'व्यवसायात्मिका बुद्धि एकाग्र होती है। सुनिश्चित मति एक ही होती है। हे कुरुनन्दन, जो मनुष्य अस्थिर है, निश्चयहीन है, अर्थात् अव्यवसायी है, उसकी बुद्धि अनन्त है और उसकी शाखाएँ अनेक हैं।'

जो अस्थिर हैं, निश्चयहीन हैं वे विक्षिप्त होते हैं, मूढ होते हैं, इसलिए किसी वस्तु को उसी रूप मे देख नही पाते जिस रूप में वह है। उनमे सम्यक् ज्ञान नही होता, यानी उनका ज्ञान सम्यक् नही होता। वे नित्य-जीवन की गौण बातों मे उलझ जाते हैं और सर्वदा नये-नये खिलौनों की तलाश मे रहते हैं कि उनसे खेलते रह सकें, मन बहला सकें। दण्ड और पुरस्कार उन्हे भरमाते रहते हैं, इधर-उधर भटकाते रहते हैं, क्योंकि वे भय और लोभ के वशवर्ती होते है। विक्षिप्त मन वस्तु को गहराई तक पहुँच नहीं पाता, वस्तुओ की गहरी सतहो की पडताल नही कर पाता, इसलिए ऊपर ही ऊपर तैरता रह जाता है, उथले धरातल पर ही क्रिया-शील रहता है। इस प्रकार की बुद्धि निश्चित ही न तो वस्तुओ का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर पाती है, न ही अजन्मा और अव्यक्त से तादात्म्य स्थापित कर पाती है। मन किससे विक्षिप्त होता है? उसके विक्षेप का मुख्य कारण उसके अपने गुण ही हैं। मन के ज्ञान का विश्लेषण इन्ही गुणो के द्वारा किया जाता है दूसरे शब्दो में, मन अपने ही गुणो की प्रक्रिया के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। जब तक मन इन गुणो से मुक्त नही हो जाता तब तक निश्चयात्मक ज्ञान का व्यवसायात्मिका बुद्धि का उदय नही हो सकता। मन की प्रक्रिया द्वारा होनेवाला ज्ञान वस्तु के सम्यक् ज्ञान को अवरुद्ध कर देता है। इस लिए भगवद्गीता अर्जुन से अपेक्षा रखती है कि वह अपने मन के गुणो के ऊपर उठे। वह कहती है:

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।

—'वेद तो त्रैगुण्य-विषक हैं, लेकिन हे अर्जुन, तुम निस्त्रैगुण्य बनो' गुणो से परे होओ, द्वन्द्वरहित, नित्य सत्त्वस्थ बनो और योगक्षेम से अर्थात् प्राप्ति और संचय की चिन्ता मे मुक्त बनो आत्मवान् बनो।'

वेद शब्द का मूल अर्थ ज्ञान है। तो, ज्ञान का क्षेत्र मन के तीन गुणों से मर्यादित हो गया है। इसलिए अर्जुन से कहा गया कि वह मन के इन तीन गुणों से ऊपर उठे। दूसरे शब्दों में वह उस जीवन का उस अस्तित्व का साक्षात्कार करे जो मन की सीमाओं से आबद्ध नहीं है, बल्कि उनसे परे है। यही एक अवस्था है जिसमें वह अजन्मा और अव्यक्त का अनुभव कर सकता है, कालातीत को काल में ग्रहणकर सकता है। मन के ये तीन गुण क्या है?

गीता के शब्दों में गो है : तमस्, रजस् और सत्व। यानी जड़ता, प्रवृत्तिमयता और सन्तुलन। दूसरे शब्दों में कहना हो तो—सिद्धान्त, प्रतिसिद्धान्त और समाधान (थिसिस, एन्टी थीसिस, सिन्थिसिस)। मन का अपना स्वभाव होता है, द्वन्द्व के उसके अपने कारण होते हैं और समाधानका भी उसका अपना ढंग होता है। कुल यही मनका क्षेत्र है। इसी क्षेत्र के अन्दर वह जीता है, चलता है और अपना अस्तित्व टिका पाता है। उसके ज्ञानार्जन की सारी प्रक्रिया इसी दायरे के भीतर चलती है। निश्चित ही यह उसकी अखण्डता का स्थान है, उसकी नित्यता की भूमि है। अर्जुन से श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि यदि वह मृत्यु को तथा जीवन को जानना चाहता है तो उसे इस नित्यता के आवर्त को तोड़ना होगा। कहते हैं कि उसे सभी द्वन्द्वों से परे होना होगा। द्वन्द्वातीत होने का अर्थ है मनोभूमि से आगे जाना, क्योंकि विचार के क्षेत्र की भी अपनी सीमा है।

विचार की सीमा में आबद्ध रह कर मन हमेशा द्वन्द्वों के बीच ही चक्कर काटता रहता है। इसलिये द्वन्द्वों के दो बिन्दुओं के बीच का क्षेत्र ही मन का ज्ञान क्षेत्र है। किसी भी विषय में मन का ज्ञान पक्ष-प्रतिपक्ष का अर्थात् द्वन्द्व का विश्लेषणात्मक ही होता है। द्वन्द्व का विश्लेषण वह जितनी स्पष्टता से करता जायेगा उतना ही उसका तद्विषयक ज्ञान सार्थक होता जायेगा। इसलिये द्वन्द्व से परे होने का अर्थ है मानसिक ज्ञानभूमि से ऊंचे उठना और वास्तविक ज्ञानभूमि में, सम्यक्ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना। जब इस प्रकार दो विपरीत-बिन्दुओं के बीच सन्तुलन सधता है, द्वन्द्वों के विषय में समरस स्थापित होता हैं, तभी सही कर्म होने लगता है, जिसमें बन्धन का अंशमात्र भी शेष नहीं रहता। श्रीकृष्ण के निम्न प्रसिद्ध श्लोक में इसी प्रकार के कर्म का निर्देश है :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
माकर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि

—'कर्म में ही तेरा अधिकार है : फल में कभी न हो। तुम्हारे कर्म का हेतु कर्मफल न रहे, न ही अकर्म में तुम्हें आसक्ति हो।'

श्रीकृष्ण अपने प्रियमित्र और आप्त शिष्य अर्जुन का ध्यान यहां विशुद्ध क्रिया की ओर खींच रहे हैं। उसे क्रिया के लिये प्रेरित कर रहे हैं, प्रतिक्रिया के लिये नहीं। जो मन द्वन्द्वाधीन होता है, विरोधी बिन्दुओं के मध्य विचरने को बाध्य

होना है, वह सर्वदा प्रतिक्रियाओं का शिकार हो जाता है। वह जानता ही नहीं कि विशुद्ध क्रिया क्या है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'तुम्हारे कर्मों का हेतु कर्मफल न रहे'। इसका अर्थ है कि कर्म हेतुरहित होना चाहिए। न वह भयमूलक हो, न भयप्रेरित। इसमें न सम्मान का प्रलोभन हो, न अपमान का आतंक।

दूसरी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विशुद्ध कर्म करने का उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से आत्मवान् बनने को कहते हैं, दिव्यत्वसम्पन्न होकर अर्थात् 'युक्त' होकर कर्म करने को कहते हैं। निश्चित ही वह दिव्य भाव द्वन्द्वातीत है, पर स्वरूप है, अजन्मा और अव्यक्त है। अव्यक्त में युक्त हो कर कर्म करने का अर्थ है निर्विचारदशा में रह कर कर्म करना, जिस अवस्था में द्वन्द्वगत विपरीत बिन्दुओं के मध्य मन का संचार सर्वथा समाप्त हो चुका होता है। इस अवस्था को गीता प्रज्ञा यानी शुद्ध बुद्धि कहती है। यह शुद्ध बुद्धि या प्रज्ञा मन की उपज नहीं है। यह तो मन के परले पार, जहाँ विपरीत बिन्दुओं के बीच समाधान स्थापित हो गया होगा द्वन्द्वसमता सिद्ध हो चुकी होगी, वहीं से निपजती है। इस प्रकार जो मन समाहित हुआ होगा, जिसे यह समाधान या समत्व सधा होगा, वही दिव्यभाव में युक्त हो सकता है, वही मन अजन्मा, अव्यक्त की अनुभूति पाने योग्य हो सकता है। इस सहत्व की चर्चा करते हुए गीता कहती है:

—'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। जो मनुष्य बुद्धियुक्त होता है वह सुकृत और दुष्कृत का, सत् और असत् का त्याग कर देता है।' यहाँ दुष्कृत या असत् का त्याग तो समझ में आता है, परन्तु सुकृत या सत् का भी त्याग करने का विचार उतनी सहजता से ग्राह्य नहीं होता। बात यह है कि मन जिसे भला या सत् मानता आया है, वह असत् या बुरे के प्रतियोगी के रूप में यानी उसके विपरीत अर्थ में ही है। भले का अर्थ है बुरे का प्रतियोगी। भला और बुरा मन के द्वन्द्व के सिवाय कुछ नहीं है। दोनों द्वन्द्व के दो बिन्दु हैं। जो मन प्रबुद्ध है, तीक्ष्ण है वह इन दोनों बिन्दुओं के बीच विचरण करते हुए जिसे सत् समझता है उसका स्वीकार करता है और जिसे असत् समझता है उसका त्याग करता है। जब तक मन को अपना पैर टिकाने के लिए एक बिन्दु उपलब्ध रहता है, एक पक्ष का अवलम्ब प्राप्त है, तब तक वह अपने को सुरक्षित मानता है क्योंकि वह वहाँ रह कर अपना दूसरा बिन्दु निर्मित कर सकता है और अपना विरसंचार जारी रखने के लिए अनुकूल नियतता का क्षेत्र पा सकता है। परन्तु शुद्ध बुद्धि युक्त मनुष्य में मन

के दोनों बिन्दु सारे द्वन्द्व मिट जाते हैं जिससे उनके मन की समता इतनी सूक्ष्म होती है कि उसमें अपने दायरे के बाहर के सूक्ष्मतम संकेतों को भी ग्रहण करने की क्षमता आ जाती है। ऐसे मन में सत्-असत् कर्मों का भेद सर्वथा नष्ट हो जाता है, क्योंकि ऐसी समत्वयुक्त स्थिति में होनेवाला कोई भी कर्म 'सत्' ही होता है लेकिन यह सत् वह नहीं जो असत् का प्रतियोगी है।

यहाँ एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि अर्जुन को योग अथवा कर्म के विषय में उपदेश करते समय श्रीकृष्ण को इस बात की उतनी चिन्ता नहीं है कि सम्यक कर्म का स्वरूप बताया जाय, जितनी कि इस बात को समझाने की है कि उस कर्म का मूल स्रोत क्या है। इस अध्याय में जिस समत्व का वह वर्णन कर रहा है, वही वस्तुतः वह स्रोत है जहाँ से सम्यक कर्म निःसृत होता है। श्रीकृष्ण चाहते हैं कि अर्जुन समत्व की वह अवस्था प्राप्त करे जिसमें विषाद के सारे बादल छंट जाते हैं और वह द्विधात्व से मुक्त हो कर सम्यक कर्म को पहचान सकता है, योगयुक्त हो सकता है। यह अवस्था से युक्त रहने की स्थिति प्रत्यक्ष स्वानुभव है, किसी मध्यस्थ व्यक्ति के द्वारा प्राप्य नहीं है। यही बात श्रीकृष्ण निस्सन्दिग्ध शब्दों में कह रहे हैं:

> 'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति
> तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।"

—'तुम्हारी बुद्धि जब मोहमुक्त होगी, तब उन सब बातों से—जो अब तक सुन चुके हो और जो अभी सुनना शेष है, निर्लिप्त हो जाओगे। आज तुम्हारी बुद्धि श्रुतियों से विप्रतिपन्न है, विक्षिप्त है, वह निश्चल हो कर समाधि में स्थिर होगी, तब तुम योग प्राप्त करोगे।'

भगवद्गीता का योग शब्द सम्यक कर्म की पूर्वसिद्धता का, उसके लिए आवश्यक अवस्था विशेष का द्योतक है। दूसरे शब्दों में, वह कर्म का मूल स्रोत है जिससे चाहे जिस प्रकार का कर्म प्रकट हो सकता है—वह प्रकार युद्ध का भी हो सकता है या शान्ति का भी हो सकता है। परन्तु वह अवस्था तभी प्राप्त हो सकती है जब बुद्धि सभी प्रकार के प्रमाणों से मुक्त हो, प्रमाण-निष्ठा से छूटे, भले ही वह प्रामाण्य शास्त्रों और वेदों का ही क्यों न हो। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि उसकी बुद्धि श्रुतियों के कारण विप्रतिपन्न है और उसे 'श्रुत और श्रोतव्यों' से निर्वेद प्राप्त करना है, निर्लिप्त होना है।

श्रीकृष्ण चाहते हैं कि अर्जुन शास्त्रों के समस्त विधि-निषेधों के बावजूद अपनी बुद्धि स्थिर रखे, बुद्धि को सारी धारणाओं और मान्यताओं से मुक्त रखे, प्रामाण्यमात्र से अस्पृष्ट रहे ताकि प्रस्तुत समस्या की ओर पूर्णतया दत्तचित्त हो सके। इस प्रकार समस्त बन्धनशील धारणाओं से मुक्त बुद्धि ही विशुद्ध कर्म-स्रोत से युक्त हो सकती है जो बन्धनकारक नहीं होता, जिस में प्रतिक्रिया का तत्त्व नहीं होता। कर्मरत होने से पहले अर्जुन को स्थिरमति बनना है, अपनी बुद्धि निश्चल करनी है, क्योंकि यही सम्यक् कर्म का वह विशुद्ध स्रोत है जो दोषकलुषित नहीं है, अक्षीण है और उसका मूल आधार है।

परन्तु अर्जुन श्रीकृष्ण से यह जानना चाहता है कि जिस मनुष्य की प्रज्ञा इस प्रकार स्थिर हुई है, उसके लक्षण क्या हैं ताकि वह स्वयं वैसा बन सके और समझ सके कि सम्यक् कर्म क्या है? स्थितप्रज्ञ पुरुष का सर्वप्रथम लक्षण जो गीता ने दिया है वह है :आत्मन्येवात्मना तुष्टः—'वह मनुष्य आत्मा में आत्मा द्वारा ही सन्तुष्ट रहता है।' इसका अर्थ क्या है? वस्तुतः यह निर्देश आत्मसंयमी पुरुष की अवस्था का है। ध्यान में रहे कि आत्मसंयमी व्यक्ति आत्मतृप्त या आत्मसन्तोषी व्यक्ति नहीं है। आत्मसंयमी वह है जो कुछ न कुछ आदर्श सामने रख कर तद्रूप बनने के प्रयत्न में सभी कामनाओं से मुक्त हुआ है। उसकी मनःस्थिति किसी बाह्य तत्त्व पर अवलम्बित नहीं है। वह कोई भी काम आत्मतृप्ति के हेतु से नहीं, बल्कि अपनी सन्तृप्ति को अभिव्यक्ति के रूप में करता है जो उसकी आन्तरिक अनुभूति का विषय है। वह एक पूर्ण पुरुष है, उसका चित्त द्वन्द्वमात्र में समरसयुक्त है और इसलिए उन सभी कामनाओं और अन्तर्विरोधों से मुक्त है जो आदर्शोन्मुख मनोदशा में प्रायः उत्पन्न हुआ करते हैं। केवल आत्मसंयमी पुरुष ही कर्मों को सम्यक् रूप से कर सकता है, क्योंकि उसके चित्त में मानसिक प्रतिक्रियाओं का कोई केन्द्र शेष नहीं रहता। दूसरे अध्याय का अन्तिम भाग बहुत ही मधुर और उज्ज्वल है, क्योंकि उसमें आत्मसंयमी पुरुष के लक्षणों का विशद वर्णन है। गीता का उद्देश्य ही आत्मसंयमी पुरुष का निर्माण करना है, जो कि कामनाओं का संघर्ष जानता ही नहीं।

यह भी उल्लेखनीय है कि आत्मसंयमी पुरुष के इस समूचे विवेचन में श्रीकृष्ण द्वन्द्व-समता पर बार-बार जोर देते हैं। कहते हैं कि यह पुरुष 'दुःखों में उद्वेगरहित और सुखों में निस्स्पृह रहता है।'

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

सामान्यतया मनुष्य दुःख की स्थिति में उद्विग्न हो जाता है और सुख की अवस्था में हवाई किले बाँधने लगता है। परन्तु सुख में बहे नहीं और प्रतिकूल परिस्थितिमें कुढ़ें नहीं-ऐसी मनःस्थिति के लिए चित्त की समता और अन्तःसमाधान आवश्यक है। इस स्थिति में रहना मानो खाण्डे की धार पर चलना है, इस में प्रतिक्षण अत्यन्त सावधान और सजग रहना होता है, अन्यथा मनुष्य इधर या उधर अति की सीमा में जा पहुँचेगा। गीता कहती है कि 'जो राग और द्वेष दोनों से मुक्त है वही स्थितप्रज्ञ है।' जीवन की सभी परिस्थितियों में राग-द्वेष से मुक्त रहना, वस्तुओं की उपादेयता और हेयता से असम्पृक्त रहना अवश्य दुःसाध्य है, फिर भी वही एक स्थिति है जो सम्यक् कर्म का वास्तविक आधार दे सकती है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् कर्म, सांख्य और योग एक ही सिक्के के दो पहलू है, एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। जब चित्त पूर्ण समत्व से युक्त होता है तभी पूर्ण ज्ञान सम्भव है। क्या यह ज्ञान ही सम्यक कर्म का मूल आधार नहीं है ?

परन्तु समत्व की यह स्थिति विचारपूर्वक किये गये कर्मत्याग से या सन्यास लेने से सिद्ध होनेवाली नहीं है। रागद्वेष-रहित अवस्था शास्त्रोक्त अनुष्ठान -विधेय के द्वारा प्राप्त नहीं होती है। समता की स्थिति एक आन्तरिक अवस्था है। वह सहज स्वतः सिद्ध होने वाली है, स्वयम्भू है। क्योंकि वह मानवीय बुद्धिपुरःसर प्रयत्न से निष्पन्न होनेवाली नहीं है। वह आती है; लायी नहीं जा सकती। परन्तु वह आती कैसे है ? मनुष्य के ज्ञान और कर्म की इस सारी समस्या पर भगवद्गीता निम्न श्लोक में बड़ी सूक्ष्म दृष्टि प्रस्तुत कर रही है :

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।

—'जो देही समस्त इन्द्रियों का पोषण बन्द कर देता है, उसके सारे विषय लौट जाते हैं; परन्तु उनका रस बचा रहता है। जब पर-दर्शन होता है, तब वह रस भी लौट जाता है।

ऐन्द्रियिक सुख के विषयों का त्याग करना सरल है। उन विषयों के अभाव से इन्द्रियों को सर्वथा संवेदनाशून्य बना देना भी सरल है। परन्तु मानव को

आन्तरिक समस्या तो न इन्द्रियों में है, न विषयों में; वह तो मन में है। विषयों से हट जाना अपेक्षाकृत सरल है; इन्द्रियनिग्रही यानी प्रत्याहार के आग्रही लोग यही तो करते है। परन्तु भले ही हम विषयों को हटा दें, फिर भी उनमें रमनेवाला मन तो वैसा ही है। यह जो मन अपनी रुचि और रस में सुख भोगता है, वह तो ज्यों का त्यों बना हुआ है। वस्तु स्थिति यह है कि जो मनुष्य प्रयासपूर्वक संन्यास लेता है, किसी वस्तुविशेष का त्याग करता है, वह भी भोगी ही है, क्योंकि उस ने जो त्याग किया है, उस में वह सुख पाता है; जिस वस्तु का त्याग किया, उसकी विपरीत वस्तु की प्राप्ति के लिए इसका त्याग किया। इसलिए यत्नपूर्वक संन्यास करने वाला व्यक्ति निश्चित ही बड़ा भोगी है, प्रबल सुखाकांक्षी है, क्योंकि यद्यपि वह इन्द्रियों को भोग से वंचित रखता है, परन्तु उसका मन एक ऐसे स्थान में जा टिका है जहाँ त्याग और संन्यास के प्रदर्शन में वह गुप्त सुख पा रहा है। गीता का कहना है कि यह रस तभी मिटता है जब पर-दर्शन होता है। वह 'पर' परमवस्तु है, अजन्मा और अव्यक्त है। उस 'पर' के दर्शन कब होंगे? क्या कभी मन के सजग प्रयत्नों से वह सम्भव है? मानव की चेतना में उस परम तत्त्व के दर्शन तभी हो सकते हैं जब कि बुद्धि अपने समस्त प्रयत्नों से विरत हो जाती है। समस्त रुचियों और रसों के त्याग द्वारा मनका शुद्धिकरण और वह पर-दर्शन दोनों प्रक्रियाएं साथ-साथ चलनेवाली हैं। बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले सभी काम-चाहे वे कितने ही उत्कृष्ट क्यों न प्रतीत हों, श्रेष्ठ लगें, फिर भी सहेतुक और कामनामूलक ही होते है। मनमें रस निर्माण करनेवाली वह कामना ही है मन अपने से उस कामना रस को कैसे मिटा सकता है जब कि उस प्रयत्न के मूलमें ही कामना निहित है? कामनामात्र का जब बाध होगा और तद्विषयक सारे रसोंसे मन मुक्त होगा तभी परदर्शन सम्भव होगा जो एक चमक से ही मानव की समस्त चेतना को क्षणमात्र में आलोकित करनेवाला है।

महाकवि कालिदास एक जगह कहते है कि 'धीर पुरुष वे हैं, जिनका चित्त विकारहेतु के होते हुए भी विकृत नहीं होता'।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

इन्द्रियों को विषयों का स्पर्श न होने देने से मन शान्त दिखाई देता है, फिर भी उसे यह जानना अभी शेष रहता है कि मनकी समता क्या है।

स्मशानशान्ति को ही समन्वयुक्त पुरुष का चित्तसमाधान समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। एक बार भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों के सामने एक प्रश्न रखा। एक गाँठ खोलने की समस्या थी। शिष्य अपना-अपना उत्तर दे चुके, तब बुद्ध ने कहा : 'यदि तुमको गाँठ खोलनी है तो तुम्हें करना केवल यही है कि जान जाओ कि गाँठ लगी कैसे।' बुद्ध के इस उत्तर में उपर्युक्त समस्या के समाधान का संकेत मिलता है जो गीता प्रस्तुत कर रही है। हमारे सामने समस्या यह है कि मनको उसके सारे विक्षेपों से मुक्त कैसे किया जाय। मनको बन्धन हीन और संस्कारमुक्त (अनकण्डीशण्ड) कैसे किया जाय ताकि वह कामनाओं का शिकार न होने पाये। तो, मनको बन्धनहीन करना है तो हमें करना केवल यही है कि हम जान जायें कि मन-बन्धनग्रस्त होता कैसे है। मनकी बन्धन-प्रक्रिया को समझना ही मनके बन्धनमुक्त होने का प्रारम्भ है। निम्न दो श्लोकों मे गीता मनकी गति का और उसके बन्धनमुक्त होने का सूक्ष्म और मूलगामी विवेचन प्रस्तुत कर रही है :

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

—'मनुष्य विषयों का चिन्तन करने लगता है तो उन विषयों में उसकी आसक्ति उत्पन्न होने लगती है। आसक्ति से उस विषय की कामना होने लगती है। कामना से क्रोध, क्रोध से सम्मोह और सम्मोहसे स्मृति-भ्रंश होती है। स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश और बुद्धिनाश से सर्वनाश होता है।'

यहाँ मनकी कार्यपद्धति का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। ऐसा विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान के महान् ग्रन्थों मे भी शायद ही मिले। गीता कहती है कि विषयों का चिन्तन करने से विषयों के प्रति आसक्ति पैदा होती है। वस्तुतः महत्व की बात विषयो का चिन्तन नहीं, उसमें रममाण होना है। दूसरे शब्दों में, विषय सम्बन्धी विचारों को निर्दोष प्रश्रय देना आसक्ति का मूल है, क्योंकि इस प्रकार विषय-चिन्तन में लगे रहने से मन उन विषयों से अपना साहचर्य (असोसियेशन) स्थापित कर लेता है। इसी साहचर्य से आसक्ति निर्माण होती है। आसक्ति के कारण कामना का उत्पन्न होना स्वाभाविक है, जिससे

मनुष्य उन विचारों का बचाव करने लगता है, उन्हें जाने नहीं देता। बचाव की इस मनःस्थिति में से क्रोध का निष्पन्न होना अनिवार्य है। वस्तुतः क्रोधमात्र का मूल भय है—जिस वस्तु को हम बचाना चाहते हैं उसके छिन जाने का भय, जिन विचारों में हम रमते हैं, वे कहीं हाथ से निकल न जायँ इस भय से ही क्रोध उत्पन्न होता है, जीवन की हर बात के प्रति क्रोधवृत्ति निर्माण होती है। क्रोध से मोह होता है, मन का सन्तुलन डिग जाता है, विवेक नष्ट हो जाता है। क्रोधावेश में मनुष्य आने से संमोहित हो जाता है और किसी भी पदार्थ का सही ज्ञान उसे नहीं हो पाता। पदार्थ को उसके वास्तविक रूप में वह देख नहीं पाता। जिस मनुष्य का विवेक और मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है उसकी स्मृतिशक्ति अवश्य ही नष्ट होती है, वह स्मृतिभ्रंश का शिकार होता है। यह स्मृतिभ्रंश शब्द महत्त्वपूर्ण है। उसका अर्थ यह है कि मनुष्य की वस्तु का स्मृति विषय की स्मृति से आच्छादित हो जाती है, ढक जाती है। जहाँ विषय की स्मृति छा जाती है, वहाँ वर्तमान पर अतीत स्वार हो जाता है और मनुष्य को वस्तु का यथावत दर्शन नहीं होने देता। स्मृतिभ्रष्ट मनुष्य कुछ भी स्पष्ट विचार करने में असमर्थ हो जाता है, क्योंकि उसके चित्त पर विषयगत स्मृतियों का ही रंग चढ़ा होता है, वह उनसे दबा हुआ होता है, बँधा हुआ है। कहना न होगा कि जहाँ मनुष्य स्पष्ट विचार ही नहीं कर पाता वहाँ उसकी बुद्धि क्षीण होती जाती है। उस व्यक्ति के जीवन में सम्पूर्ण मानसिक अपकर्ष और ह्रास होने लगता है। कुल मिला कर यह है मन के बन्धनयुक्त (कण्डीशन्ड) होने की समग्र प्रक्रिया। इस प्रक्रिया के प्रति सावधान (अवेर) रहना ही मन को विक्षेपों से मुक्त रखने की प्रक्रिया है। अपने को निरन्तर बन्धनमुक्त रखनेवाला मन ही सचेतन मन है, संवेदनशील मन है जो अजन्मा, अव्यक्त तत्त्व के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर संकेतों को ग्रहण करने के लिए मुक्त होता है, ग्रहण करने की क्षमता रखता है। वह मन सभी प्रकार के रागद्वेषात्मक द्वन्द्वों से मुक्त है और इसलिए उसमें अगाध शान्ति निवास करती है, अन्तर्विरोधों का सर्वथा अभाव होता है।

शुद्ध चित्त में, बल्कि शुद्ध चित्त में ही प्रज्ञा उत्पन्न होती है। चित्त की यह बुद्धि मनुष्य में पूर्ण अवधान (अटेन्शन) की अवस्था है जिसमें वह जो भी देखता है पूर्णतया अवहित-चित्त हो कर देखता है क्योंकि उसके अतीत

के कारण विक्षेप पैदा करनेवाले सारे केन्द्र नष्ट हो जाते हैं। यह पूर्ण अवधान शान्ति का और इसलिए आनन्द का अधिष्ठान है। गीता कहती है :—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना
न चाभावयतः शान्तिः अशान्तस्य कुतः सुखम्।

—'जो युक्त नहीं है, समाधान विहीन है उसमें बुद्धि नहीं है, न ही एकाग्रता (कोनसेन्ट्रेशन) है। जिस में एकाग्रता नहीं, उसे शान्ति नहीं, और जो अशान्त है उसे सुख कहाँ ?'

मन की शान्ति और अविचलता ही सुख का मूल है। परन्तु विक्षिप्त मन कभी नहीं जान सकता कि शान्ति क्या है। जो मन पूर्ण अवधानयुक्त है, समाहित है, वही जान सकता है कि शान्ति क्या है, मन की अविचलता क्या है। यह मन पूर्ण प्रज्ञायुक्त कर्म कर सकता है, क्योंकि उसे वस्तुओं का सम्यक ज्ञान है। इस प्रकार मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी समस्या यही है कि चित्तविक्षेपकारी तत्वों का निरसन करने के उपाय कैसे जाने जिनसे पूर्ण अवधान की अवस्था प्राप्त हो सके, और जीवन की सभी परिस्थितियों में प्रज्ञायुक्त रह कर व्यवहार किया जा सके। गीता ने विक्षिप्त चित्त का वर्णन करने के लिए बड़ी सुन्दर उपमा दी है : वायुर्नावमिवाम्भसि—'जैसे नाव को मँझधार में आँधी उड़ा ले जाय'। चारों ओर से प्रचण्ड हवा हमारे मन को उड़ा ले जाती है, हमारी जीवन-नौका आँधी की शिकार हो जाती है, वह स्थिर नहीं रह पाती, उसे शान्ति और स्वस्थता का पता ही नहीं रहता। वह मन प्रज्ञायुक्त कर्म कैसे कर सकेगा ? जीवन का रहस्य कैसे समझ सकेगा ? और मृत्यु का अर्थ कैसे जान सकेगा ?

फिर प्रश्न खड़ा होता है कि अंधाधुंध भटकनेवाले इस मन को स्थिर कैसे किया जाय, अविचल अवस्था कैसे लायी जाय ? यदि वह शान्ति और स्थिरता न भोग से आती हो और न त्याग से भी आती हो, तो फिर वह आयेगी कैसे ? यदि मनुष्य को द्वन्द्वातीत होना है तो फिर जीवन की चुनौतियों का वह सामना कैसे करे ? निश्चित ही ये जीवन की वास्तविक समस्याएँ हैं। यदि भोग और त्याग दोनों को हम छोड़ देते हैं, दोनों का निषेध कर देते हैं, तो क्या जीवन-व्यवहार का कोई तीसरा मार्ग है ? जीवन की समस्याओं को ओर देखने का और उनका सामना करने का तीसरा मार्ग गीता निम्न श्लोक में सुझा रही है :

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।

'शान्ति कामकामी को नहीं, बल्कि उसको प्राप्त होती है जिसमें सारी कामनाएँ समुद्र मे नदियों के समान प्रवेश करती हैं और तब भी जिसकी प्रतिष्ठा अविचल रहती है।'

इस श्लोक मे गीता जिस मार्ग का निर्देश कर रही है, वह न घुटने टेकने का मार्ग है, न ठुकराने का बल्कि जीवन जिस रूप में है उसी रूप मे ग्रहण करने का मार्ग है, स्वीकार करने का मार्ग है। जीवन की समस्या में से कोई भी मार्ग तभी सम्भव है जब हम उसे यथावत् स्वीकार करते हैं। यदि हम जीवन को उसके यथार्थ रूप से स्वीकार नहीं करते हैं, तो जीवन की समस्याओं के परिहार के लिए हम जो भी करेंगे, वह सब अर्थहीन ही होगे। यह तो वैसा ही होगा जैसे हम प्रवास के लिए निकले हों, लेकिन पता ही न हो कि प्रवास कहाँ से आरम्भ करना है। अपरिचित जीवनपथ की यात्रा प्रारम्भ करने का सही और समुचित आरम्भ बिन्दु जीवन को यथार्थरूप में स्वीकार करना ही है। गीता के उपर्युक्त श्लोक में प्राप्त परिस्थिति को उसी रूप में स्वीकार करने के ही मार्ग का निर्देश किया गया है। उस स्वीकृति को विवश-समर्पण समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। उस तरह के विवश-समर्पण मे बाहर से तो स्वीकृति दिखाई देती है, लेकिन अन्दर प्रतिकार और विरोध की वृत्ति रहती है। इस प्रकार विवश-समर्पण से बाह्य स्वरूप और आन्तरिक वृत्ति दोनो के बीच अमिट संघर्ष की परम्परा आरम्भ होती है। परन्तु यथार्थस्वीकृति में ऐसा संघर्ष नहीं है, क्योंकि जीवन जैसा है वैसा ही उसको ग्रहण किया जाता है, और वही जीवन की समस्त उपलब्धियों और प्रसंगो के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रारम्भबिन्दु बनता है। सारी नदियाँ समुद्र की ओर बहे चली आती हैं, असंख्य विविधताओं के साथ समुद्र में प्रवेश करती हैं लेकिन समुद्र उनमें से किसी भी प्रवाह विशेष के साथ न तो अनुरक्त होता है, न विरक्त होता है, चाहे वह प्रवाह निर्मल जल का हो, या पंकिल। समुद्र को नदियों के जल के प्रति न लालसा है, न जिज्ञासा। समुद्र पूर्ण है, फिर भी जलराशि को अपने में समा लेने को वह तैयार है। अपार जलराशि भर-भर कर नदियाँ बहती आ रही हैं भी फिर समुद्र अविचल है, स्थिर शान्त है।

गीता कहती है कि जिस व्यक्ति का चित्त ग्रहणशील है, परन्तु मरणशील नहीं है, वही पूर्ण है, वही अपने में शान्त है और इसलिए विश्व के प्रति भी शान्त है। मन की यह शान्ति और यह निश्चलता न समर्पण से आ सकती है, न प्रतिकार से। चित्तसमाधान का एकमात्र मार्ग वस्तुस्थिति का यथावत् स्वीकार ही है जिसमें अजन्मा, अव्यक्त तत्त्व से युक्त होने की सामर्थ्य है। जीवन का मार्ग इस युक्त अवस्था में ही खोजना है, क्योंकि उसी में आत्मा की अन्तर्वाणी सुनी जा सकती है। गीता जिस योगमार्ग का निर्देश कर रही है, जिस कर्ममार्ग का प्रतिपादन कर रही है उसका प्रारम्भबिन्दु इस स्वीकृति में ही है।

जीवन जैसा है वैसा ही उसे स्वीकार करना जीवन-यात्रा का सही प्रारम्भ-बिन्दु है। इस स्वीकृति से ही मनुष्य अजन्मा, अव्यक्त तत्त्व से युक्त हो सकता है और यह युक्त अवस्था ही मनुष्य को पूर्णदर्शन की ओर उस पूर्ण के अंश से समुचित सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता प्रदान करती है। जो पूर्ण पुरुष है, स्थितप्रज्ञ है उसी के जीवन में यह देखने को मिलेगा कि पूर्ण अवस्था के सुन्दर समग्र स्वरूप के बीच अंश अपने समुचित स्थान में प्रतिष्ठित है। यह वह अवस्था है जिसमें वैश्विक इच्छा और मानवीय इच्छा के बीच का विरोध समाप्त हो जाता है। जब अंश, अंशी के अन्दर, पूर्ण स्वरूप के बीच औचित्यपूर्ण स्थान प्राप्त करता है, तभी अर्जुन के स्वर में स्वर मिला कर मनुष्य कह सकेगा—

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।

'संशय-रहित हो कर स्थिर हुआ हूँ। आपके वचनानुसार चलूँगा।'

जीवन को यथावत् स्वीकार करें और उसे ही कर्ममार्ग का प्रारम्भबिन्दु बनायें, यही गीताप्रतिपादित जीवनपथ है। यही वह मार्ग है जिसमें व्यष्टि की इच्छा समष्टि की इच्छा में अपनी पूर्णता अनुभव करती है। यही गीता के उपदेशों का सारतत्त्व है।

गीता का मार्ग अत्यन्त क्रान्तिकारी है, अन्यादृश्य है, क्योंकि वह केवल चेतना-प्रसार की बात नहीं, बल्कि चेतना-विस्तार की बात कहती है। वह मानव-जीवन के केवल आकार-भेद का ही निर्देश नहीं कर रही है, प्रकार-भेद भी सूचित कर रही है। यह वैसा ही भेद है जैसा प्राणिशास्त्र की परिभाषा में परिणमन (वेरियेशन) और उत्क्रान्ति (म्यूटेशन) का है। गीता का निम्न श्लोक इस तथ्य का पर्याप्त प्रमाण उपस्थित करता है :

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः

—'भूतमात्र के लिए जो रात है वह संयमी पुरुष की जागृति का समय है और जो प्राणियों के जागने का समय है वह ज्ञानी मुनि के लिए रात्रि है।'

'मुनि जागता है तब संसार सोया रहता है'—यह आत्मनिष्ठ जीवन में और सांसारिक कर्मों में विद्यमान प्रकार-भिन्नता का द्योतक है। डा० राधाकृष्णन् कहते हैं—"आध्यात्मिकता नैतिकता का विस्तार नहीं है, वह सर्वथा नया एक आयाम है जिसका सम्बन्ध शाश्वत तत्त्वों से है।" भगवद्गीता का सम्बन्ध आध्यात्मिक सत्य (रियालिटी) से है, केवल नैतिक सिद्धान्तों से नहीं। गीता का नैतिक व्यवहार आध्यात्मिक अनुभूति से प्रस्फुरित है, धार्मिक अधिकारसूत्रों द्वारा निर्धारित नियमों और विधियों से आबद्ध नहीं। उपर्युक्त श्लोक में जीवन का सर्वथा नया एक आयाम सामने आया है जिसमें श्रीकृष्ण अपने परम सखा और आप्त शिष्य अर्जुन को दीक्षित करना चाहते हैं। भगवद्गीता नीति-नियमों की चर्चा करनेवाला शास्त्र नहीं है, अनुभूतिमूलक अध्यात्मप्रवण ग्रन्थ है। प्रधानतया आध्यात्मिक क्रान्ति का विवेचन करनेवाला ग्रन्थ है, केवल व्यावहारिक नीति-नियमों का विचार करनेवाला नहीं। ऐसा हो तो मानवजीवन को, उसके अस्तित्व को विधि-निषेधों की चार-दीवारी में घेरनेवाले नियम सुझाये होते। गीता तो उल्टे सारी दीवारों को तोड़कर जीवन के मुक्त गगन-विहार का आवाहन कर रही है। भगवद्गीता नैतिक सुधार सुझानेवाला ग्रन्थ नहीं है, आध्यात्मिक क्रान्ति करनेवाला ग्रन्थ है। यह जीवन-यात्रा में निर्भीक साहस से आगे बढ़ने की अपेक्षा रखती है। जीवन के इस साहसपूर्ण प्रवास के लिए यात्री को अपना सारा आधार और आलम्बन, घरबार और धाम त्यागना होगा, सर्वात्मना 'अनिकेत' होना होगा और सर्वसंगपरित्यागी बनना होगा। गीता हमें इस यात्रा में हाथ पकड़ कर आगे ले चलती है हमारे हाथ में शून्यता रूपी शस्त्र पकड़ाती है जिससे नित्य जीवन के बीहड़ जंगल के झाड़-झंखाड़ों को काट कर अपना रास्ता हम बना ले सकें।

ज्यों-ज्यों हम एक-एक अध्याय देखते जायेंगे, त्यों-त्यों आत्मा की इस जीवनयात्रा के मनोरम उपाख्यान में हम गहरे उतरते जायेंगे। जीवन के

नये-नये आयाम हमारे सामने प्रकट होते जायेंगे जिन से हमारे अन्दर मानव जीवन की गभीरतर गहराइयों और उत्तरोत्तर उत्तुंग शिखरों को नापने की सामर्थ्य उत्पन्न होगी जहाँ जीवन का रहस्य अपनी अपार महिमाओं और अगाध विशालताओं सहित मानव के साक्षात्कार के लिए खुला पड़ा है।

तृतीय अध्याय

स्थिति और आकांक्षा

भगवद्‌गीता की विशेषता यह है कि वह अध्यात्ममार्ग के पथिक को अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए संसार का त्याग करने और वन में जा बसने को नहीं कहती, बल्कि जो जहाँ है वहीं, सांसारिक कर्तव्यकर्मों के बीच ही रहने को कहती है। गीता का कहना है कि जीवन का अर्थ ही कर्म है, जीना यानी कर्म करना। क्योंकि 'मनुष्य बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रह सकता।'

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत्।

जीवन का अर्थ ही कर्म है, बल्कि स्थिति यह है कि कर्म न करना भी प्रायः कर्म का ही एक प्रकार हो जाता है। मनुष्य सम्बन्धों को टाल नहीं सकता, उन से बच नहीं सकता। क्योंकि अस्तित्व और सम्बन्ध दोनों परस्पर पर्याय जैसे हैं। यह सम्बन्ध जो कि अस्तित्व का ही अविभाज्य अंग है, अपनी अभिव्यक्ति कर्म में ही कर पाता है। लेकिन महत्व की बात यह नहीं है वह कर्म किस प्रकार का हो-वह कोई शारीरिक क्रिया हो सकती है या कोई अदैहिक अभिव्यक्ति। चूँकि कर्म और अस्तित्व अविभक्त है, अपृथक् हैं, इस लिए गीता के अनुसार कर्म मानव-जीवन का मूल-भूत सिद्धान्त है। गीता की यह कुशलता पूर्ण विशेषता है कि वह कर्म और क्रिया में भेद करती है। उसका कहना है क्रियाओं के वर्जन से मनुष्य नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं कर सकता। और यह भी असम्भव ही है कि मनुष्य क्रियामात्र से विरत हो जाय। फिर क्रियाओं के छोड़ने से कर्म से मुक्ति थोड़े ही मिल सकती है। क्योंकि क्रियारहित परिस्थिति भी सम्बन्ध विशेष का ही एक रूप है।

आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित सारी समस्या को ठीक से समझने के लिए दूसरा एक पृथक्करण जान लेना आवश्यक है और वह है संन्यास और त्याग का भेद, अनासक्ति और विरक्ति का भेद। गीता को हमेशा कर्म-तत्त्व की चिन्ता रहती है, कर्मस्वरूप की नहीं। गीता कर्म के हेतु पर बल देती है, क्रिया के आकार-प्रकार पर नहीं। त्याग एक स्थूल क्रिया है, क्रिया विशेष का

बाह्य आकार है। संन्यास या अनासक्ति आन्तरिक स्थिति-विशेष है, चित्त की विशिष्ट अवस्था है। गेरुआ वस्त्र पहन कर या विशेष कर्मकाण्डों के द्वारा संन्यास का प्रदर्शन किया जा सकता है; प्रापंचिक सुख-सुविधाओं को छोड़ कर, विशेष रीति-रिवाजों को अपना कर संन्यास का स्वाँग रचा जा सकता है, परन्तु वास्तविक आध्यात्मिक जीवन के लिए इन सब दिखावों का कोई अर्थ नहीं है। अध्यात्मजीवन में तो आन्तरिक वृत्ति और मनः स्थिति का महत्व है, बाहरी वेषभूषा का नहीं।

आध्यात्मिक जीवन के स्वरूप के बारे मे गीता में लेशमात्र भी अस्पष्टता नहीं है। गीता कहती है :

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।

—'जो कर्मेन्द्रियों का तो निग्रह कर लेता है, परन्तु मन से विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मूढात्मा 'मिथ्याचारी' कहलाता है।'

मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का मानदण्ड उसके अन्तःकरण की अवस्था है, बाह्यकर्मकाण्ड या रूढियां नहीं। सच तो यह है कि वास्तविक आध्यात्मिक पुरुष सर्वथा निराडम्बर होता है। जीवन में आडम्बर का न होना ही सच्ची आध्यात्मिकता है। कोई भी आडम्बर-चाहे वह भौतिक पदार्थों का हो चाहे आध्यात्मिक उपकरणों का—ओछेपन का लक्षण है। अपनी तथाकथित अच्छाई का प्रदर्शन करने से बढ कर ओछापन और बेहूदगी और क्या हो सकती है? जो व्यक्ति अपने आध्यात्मिक आचारों का जितना अधिक प्रदर्शन करता है, उसके आन्तरिक जीवन में अध्यात्म उतना ही कम है। भगवद्गीता ऐसे मनुष्य को मिथ्याचारी कहती है, ढोंगी कहती है।

दूसरे अध्याय मे गीता ने जीवन तथा मृत्यु का रहस्य समझने की कुंजी के रूप में अजन्मा और अव्यक्त की बात प्रस्तुत की है। गीता सुझा रही है कि उस अजन्मा और अव्यक्त से युक्त होने के लिए द्वन्द्वातीत होने की और समत्व-युक्त होने की आवश्यता है। जीवन जैसा है वैसा ही स्वीकार करने की आवश्यकता है—न उसका समर्थन करना है, न निषेध। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जीवन को यथावत् स्वीकार करने की बात कह कर गीता हम से सर्वथा निष्क्रिय रहने को कह रही है, अकर्मण्यता का उपदेश दे रही है। लेकिन

ऐसी बात नहीं है। गीता जीवन को यथावत् स्वीकार करने को कहती है तो कर्म के पर्याय या विकल्प प्रस्तुत करने के रूप में नहीं कहती, बल्कि उसको सच्चे कर्म के प्रारम्भबिन्दु के रूप में ग्रहण करने को कहती है। यदि हम कर्म का प्रारम्भबिन्दु चूक जाते हैं तो हमारा कोई भी कर्म अवश्य ही गलत होगा और इसलिए बन्धन का कारण बनेगा। अर्जुन दिङ्मूढ़ हो गया था और सही निर्णय नहीं कर पा रहा था क्योंकि स्वधर्म का सही प्रारम्भबिन्दु वह चूक गया था। तो, सच्चे कर्म का सही प्रारम्भबिन्दु क्या है? वह है अनासक्त चित्तवृत्ति, जो द्वन्द्वों के अभिघात से मुक्त है। श्रीकृष्ण कहते हैं :

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचार।

—'जो यज्ञकर्म नहीं हैं, वे संसार के बन्धनकारक हैं। इस लिए, हे कौन्तेय, अनासक्त हो कर, संगमुक्त हो कर कर्म करो।'

इस श्लोक में कर्मों का भेद दर्शाया गया है। कहा है कि जो कर्म यज्ञार्थ नहीं होते हैं वे बन्धन का हेतु बनते हैं। अब यह देखना है कि यज्ञ शब्द का क्या अर्थ है। इसी अध्याय के एक श्लोक में प्रजापति के यज्ञ का उल्लेख आता है, जिस में से सारी सृष्टि निर्मित हुई। गीता कहती है

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

—'प्राचीन समय में प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि यज्ञों के साथ की'। यह यज्ञयन सभी धर्मों के अन्तर्गत गूढ़विद्या का भव्य तत्त्व रहा है। चाहे पाश्चात्य विचारधारा हो, चाहे पौर्वात्य परम्परा हो, सभी धर्म के विचार इस भावना से अनुप्राणित हैं कि सारी सृष्टि का अस्तित्व उस स्रष्टा के आत्मयज्ञ पर ही टिका हुआ है। विधाता ने आत्मयज्ञ किया तभी ब्रह्माण्ड का सृजन हुआ और वह टिका। हिन्दू-विचारधारा में इसे प्रजापति का, विश्वविधाता का यज्ञ कहा गया। इस विषय पर लिखते हुए श्री सी० जिनराजदास 'परमेश्वर का महा यज्ञ' नामक अपने निबन्ध में लिखते हैं

"भारत में देवयजन के इस गूढ़ तत्त्व की संस्तुति एक पौराणिक गाथा के रूप में, एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में की गयी है। कहा जाता है कि विश्वस्रष्टा प्रजापति अपने वध के लिए तैयार हुए। स्वयं बलिवेदी पर चढ़ गये। क्योंकि उनका वध होने से ही सृष्टि की रचना हो सकती थी। प्रजापति अपने ज्येष्ठ

पुत्रों को—देवताओं को—आदेश देकर वेदी पर लेट गये और उनके आदेश के अनुसार देवताओं उनको काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दिये। इस प्रकार देवत्व को वलि दे दी गयी। इस देवबलि से, प्रजापति के इस प्राणोत्सर्ग से सारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई। प्रजापति के शरीर के इन बिखरे टुकड़ों से पर्वत बने मैदान बना, ग्रह-तारकाएं बनीं; उन्हीं टुकड़ों से धातु बने, वनस्पति बनी, प्राणी और मनुष्य बने। कहा जाता है कि चूंकि प्रारम्भ में परमेश्वर ने अपने पूर्ण और शुद्ध स्वरूप का उत्सर्ग कर दिया उसीसे आपका और हमारा पृथक् अस्तित्व सम्भव हुआ।''

हिन्दू-विचार मानव से यह अपेक्षा रखता है कि वह ईश्वर के इन बिखरे अंगों को पुनः एकत्रित करें और ईश्वर को पुनरुज्जीवित करे। ईसाई धर्म में यह मान्यता है कि ईश्वर के पुनरुत्थान का यह चमत्कार ईश्वरेच्छा और ईश्वरीय शक्ति का ही विषय है: लेकिन हिन्दू-विचारधारा के अनुसार यह चमत्कार मानवीय पुरुषार्थ से साध्य होता है। मनुष्य यह तभी कर सकता है जब मनुष्य मनुष्य के रूप में शेष नहीं रह जाता। मनुष्य का मनुष्यत्व के रूप से जब विघटन हो जाता है, तब उस विघटन से ईश्वर का पुनरुत्थान होता है। यही देवयजन है और यह देवयजन, हिन्दूदर्शन के अनुसार एक अखण्ड प्रक्रिया है, अटूट धारा है। यही विचार गीता के निम्न कथन मे सूचित है:

—सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

—'सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञमे नित्य प्रतिष्ठित है।'

चूंकि ब्रह्म यज्ञ मे नित्य प्रतिष्ठित है, इसलिए एकमात्र यज्ञ ही है जिसमें मनुष्य उस ब्रह्मतत्त्व से युक्त हो सकता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कर्म में अर्थात् यज्ञ में लगे रहने को कहते है। इस प्रकार यज्ञ का अर्थ वह कर्म है जिसमें मनुष्य मात्र साक्षी रहता है। स्वयं अपने कर्म का साक्षी बनें—यही उस परमाचार्य का अपने शिष्य को आदेश है। कोई कर्म तभी यज्ञ बनता है जब कर्म का कर्ता स्वयं मिट जाता है, जिसमें कर्ता-कर्ता नहीं रह जाता। यह विचार गीता के निम्न श्लोक में उत्कृष्ट रूप में आया है:

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।

—'जो सत्पुरुष यज्ञशेष का भोजन करते हैं, वे समस्त पापों से मुक्त होते हैं : परन्तु जो पापी केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं, वे पाप ही खाते हैं।'

यह यज्ञशेष क्या है ? निःसन्देह वह 'मैं' है जो समस्त मैं-पन से मुक्त है, वह 'स्व' है जो अपने समस्त प्रकार के 'स्वत्व' को नामशेष कर चुका है। यदि अपना साक्षी स्वयं बनना ही यज्ञ है, तो ऐसे यज्ञ में हर प्रकार के 'मैं-पन' से बचानेवाला रक्षाकवच 'मैं' ही है। जो मनुष्य स्वत्व से मुक्त आत्मा से ही पोषण पाता है वह निश्चित ही सर्व पापों से छूट जाता है। परन्तु जो अपने लिए ही अन्न पकाता है मानो अपने स्वत्व में ही अपना पोषण देखता है, वह निःसन्देह पाप भोगता है—यह है वह सुन्दर उद्बोधन जो श्रीकृष्ण अपने मित्र अर्जुन को दे रहे हैं। श्रीकृष्ण मानते हैं कि यज्ञ ही समस्त सृष्टि का धारक है, अधिष्ठान है।

प्रायः यज्ञ का अर्थ धर्म किया जाता है। हम देखते हैं कि सर्वदा धर्म-भावनारहित कर्म में कुछ न कुछ दबाव का तत्त्व होता है—भले वह सहज दृष्टिगोचर न भी हो। जहाँ दबाव है वहाँ उसके पीछे निश्चित ही कोई न कोई हेतु होता है, एक न एक कामना होती है। क्योंकि मनुष्य दबाव में आकर काम करने के लिए तभी उद्युक्त होता है जब वह उस कर्म से अपना कोई हेतु सिद्ध होता देखता है या उसमें अपनी कामना की पूर्ति देखता है—भले ही उस कामना या हेतु को हम उत्कृष्ट और उदात्त शब्दों में क्यों न प्रकट करें। संसार में हम देख रहे हैं कि सभी कर्म स्वार्थप्रेरित होते हैं। उनके पीछे हेतु और कामना स्पष्ट तो नहीं दीखती, परंतु कर्तव्य या ऐसी ही किसी उन्नत भावना के आवरण के पीछे वह स्वार्थ छिपा होता है। हेतुपुरस्सर कर्म और कामनामूलक कर्म, दोनों प्रकार के कर्म मनुष्य अपनी गरज से किया करता है। यह निश्चित ही है कि कर्म में जहाँ गरज जुड़ी, वहाँ वह कर्म आसक्ति से कलुषित होता ही है। जो कर्म किसी भी प्रकार की गरज से अछूता है, और इसी कारण सहज-स्फूर्त होता है, सही माने में वही अनासक्त कर्म है। यहाँ भी वही बात लागू है कि जो आत्मसंयमी पुरुष होगा वही जानता है कि अनासक्त कर्म क्या है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :—

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः।

—'जो पुरुष अनासक्त होकर कर्माचरण करता है वह 'पर' (परम तत्त्व) को प्राप्त होता है।' अनासक्त कर्म वह कर्म है जो किसी गरज से नहीं, बल्कि

अन्तःस्फूर्ति से प्रेरित होता है। यहाँ गीता ने जनक का दृष्टान्त दिया है जिसने कर्म द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। जनक के कर्म के पीछे न कोई गरज थी, न कोई दबाव था। किसी प्रकार के स्वार्थ से लेशमात्र दूषित न होते हुए उसने कर्म किया। ऐसे ही कर्म है जो संसार को वास्तव में धारण करता है, जिस प्रकार प्रजापति यज्ञ के द्वारा सृष्टि को धारण करता है।

अनासक्त कर्म का विवेचन करते हुए गीता ने समाज के आमूल परिवर्तन का एक बुनियादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।

—'श्रेष्ठ पुरुष जो करते हैं अन्य लोग भी वही करते हैं; वह जो मानदण्ड स्थापित करता है, उसे ही आदर्श मानकर लोग चलते हैं।'

मानव-समाज को आकार देने में व्यक्ति के विधायक और प्रेरक पुरुषार्थ का यहाँ हमें दर्शन होता है : यह स्पष्ट होता है कि समाजरचना में व्यक्ति का योगदान कितना प्रेरक (डायनेमिक) है, कितना कार्यकारी है। व्यक्ति समाज की उपज नहीं है, बल्कि व्यक्ति की निष्पत्ति समाज है। व्यक्ति श्रेष्ठता का जो आदर्श प्रस्तुत करता है, समाज उस आदर्श की ऊँचाई तक उठने का प्रयत्न करता है, वहाँ तक उठ सकता है। गीता की इस बात की तुलना चीनी दर्शन के 'उत्कृष्ट मानव' (सुपीरियर मेन) से की जा सकती है। कार्लाईल ने कहा था—"मानवता का इतिहास उसके महापुरुषों की जीवनी है।" गीताका सिद्ध पुरुष तो पूर्ण अनासक्ति से कर्म करनेवाला है। उसमें यह अहंकार या यह भ्रम नहीं है कि 'मैं कर्ता हूँ।'

श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि स्वयं उन्हें कर्म करने की कोई गरज नहीं है, उनके लिए कर्तव्य-जैसा कुछ नहीं है, फिर भी वे सदा कर्म में लगे रहते हैं। यही ब्रह्म का महायज्ञ है जो विश्व का धारण करनेवाला है। यदि प्रजापति अपना यज्ञ बन्द कर देता तो सारा ब्रह्माण्ड नष्ट हो चुका होता। कहा जाता है कि ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि अपने ढंग से की। इसलिए मनुष्य अपने स्रष्टा के अनुरूप ही व्यवहार करे यही स्वाभाविक है। मनुष्य ईश्वर का सहयोगी बन सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, बशर्ते कि वह अपने यज्ञ को परमेश्वर के महायज्ञ से जोड़ दे, उसमें मिला दे। विश्वको धारण करने में उसे ईश्वर का साथ देना

चाहिए। पौराणिक कथा है कि श्रीकृष्ण लोगों के प्रति करुणा से प्रेरित होकर, उनकी रक्षा के लिए गोवर्धन पर्वत को अपनी उँगली पर उठा लेते हैं। और यह देखकर सारे गोपबालक भी अपनी-अपनी लाठी गोवर्धन के नीचे लगा देते हैं। यह कथा ईश्वर के महायज्ञ-रूपी सागर में मानव के यज्ञ-रूपी छोटी-छोटी धाराओं के मिलन का रूपक है। सारांश, प्रजापति के विच्छिन्न अवयवों के टुकड़ों का संमिलन मनुष्य में होना चाहिए और यह तभी होगा जब मानव यज्ञ में निरत होगा, अनासक्त कर्म में लीन होगा। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तः—

—'अज्ञानी जिस प्रकार आसक्त होकर कर्म करते हैं, हे भारत, ज्ञानी को उसी प्रकार अनासक्ति रखकर कर्म करना चाहिए।'

आसक्ति-रहित कर्म क्या है? कर्ता के बिना कहीं कर्म सम्भव है? कर्ता न हो, तो कर्म करता कौन है? ये सब अत्यन्त महत्त्व के प्रश्न हैं, परन्तु इन सब पर विचार करने का गीता का ढंग बड़ा सीधा और सरल है। गीता कहती है कि जो मनुष्य भूतमात्र की प्रकृति को जान लेता है और उसके कर्मों को पहचान लेता है वह अपने कर्म की आसक्ति से मुक्त हो जाता है। यदि मनुष्य प्रकृति की गति में बाधा नहीं पहुँचाता है, उसको अपने ढंग से कर्म करने देता है, सर्वथा स्वतंत्र छोड़ देता है, तो वह जीवन को अनेक उलझनों और जटिलताओं से बच जाता है। प्रकृति में मानव का हस्तक्षेप होता है तभी भले-बुरे की सत्-असत् की समस्या खड़ी होती है। मनुष्य यदि प्रकृति के अपने कर्मों का मात्र साक्षी रह सके, तो वह प्रकृति का बड़ा सहायक सिद्ध होगा और प्रकृति अपना कर्म सुचारु रूप से कर सकेगी। गीता कहती है कि ज्ञानी यह जानते हैं कि गुण गुणों में काम करते हैं, और मनुष्य जब तक गुणों को गुणों में काम करने देता है तब तक वह प्रकृति को उसका अभिलषित स्वातंत्र्य देता है, जो उसे सृष्टि में अपने को अपने मूल स्वरूप में अभिव्यक्त करने के लिए आवश्यक है। उसमें मानव के निम्नस्तरीय तत्त्व भी अबाध रूप से, खुल कर प्रकट होंगे, लेकिन प्रकृति उन्हें सँभाल लेगी और उनमें निहित सौन्दर्य को निखार कर उन्हें भी सजा देगी। प्रायः मनुष्य प्रकृति का विघातक माना जाता है। वस्तुतः मनुष्य का काम इतना ही है कि वह प्रकृति की गति को पहले से जान ले और उसे

अपने ढंग से काम करने के लिए आवश्यक अनुकूल परिस्थिति निर्माण करके उसके सहज व्यापार में सहायक हो, जिससे प्रकृति अनियंत्रित रह कर, मुक्तभाव से अपने नियत मार्ग में स्वभावानुसार काम करती जाय। यही मनुष्य की नियति है, उसके जीवन का लक्ष्य है। और यही गीता द्वारा प्रस्तुत अनासक्ति है। अपने कर्मों का साक्षी रहने का अर्थ है मनुष्य यह देखता रहे कि प्रकृति अपना कर्म किये जा रही है, वह उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर रहा है, हस्तक्षेप होने नहीं दे रहा है। गुण गुणों में काम कर रहे हैं—यह देखना ही सही अनासक्ति है, क्योंकि इसमें मनुष्य अपने कर्मों का वास्तविक द्रष्टा और साक्षी बनता है।

अनासक्ति समझाते हुए, श्री कृष्ण एक उदात्त विचार प्रस्तुत कर रहे हैं, जो लगभग पूरी गीता में ओतप्रोत है। वे कहते हैं :—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।

—'सारे कर्मों को मुझे समर्पण करके, अध्यात्म में लीन रहते हुए, आशा और अहन्ता से मुक्त होकर तथा मानसिक ज्वर से रहित होकर युद्ध करते जाओ।'

आसक्ति-रहित कर्म के लिए इस श्लोक में एक शर्त भगवान् ने सुझायी है कि आशा और अहन्ता से मुक्त बनो।' मानसिक ज्वर से रहित रहना मन की वह अवस्था है जिसमें आन्तरिक समाधान और शान्ति है, स्थिरता है। वहाँ कोई अन्तर्विरोध नहीं है, क्योंकि विरोधमात्र सन्ताप और ज्वर पैदा करनेवाला होता है। परन्तु मन की यह शान्ति, मानसिक ज्वर-विहीनता, तभी सम्भव है जब मन आशा और अहन्ता से मुक्त होगा। यह आशा ही है जो सभी प्रकार की आकांक्षा के पीछे हेतु के रूप में काम करती है। कुछ 'बनने' की इच्छा का हेतु है। जहाँ भी 'कुछ बनने की' आकांक्षा हुई, वहाँ निश्चित ही आशा जन्म लेती है। कुछ बनने की आकांक्षा का अर्थ ही है भविष्य की कल्पना करना। भविष्य की कल्पना करनेवाला तो 'मैं' हूँ, वह अहं-तत्त्व है जो कालगति में अपनी अखण्डता और नियतता बनाये रखना चाहता है। इस प्रकार भविष्य की कल्पना करनेवाला तत्त्व 'अहन्ता' है, तो उस कल्पना को साकार करने की दिशा में झाँकने की खिड़की का काम देनेवाला तत्त्व है 'आशा'। इस

प्रकार आशा और अहन्ता दोनों अन्योन्याश्रित हैं, परस्पर सम्बद्ध हैं, एक को छोड़ कर दूसरा नहीं रह सकता। और ये ही आशा या आकांक्षा है जो मनुष्य को आसक्तिरहित कर्म करने नहीं देती हैं, उसके अनासक्त आचरण में बाधक होती हैं।

वास्तव में आशा का मूल क्या है? मनुष्य आशा का चश्मा पहनकर भविष्य की कल्पना करने में क्यों आनन्द लेता है? निश्चित है कि आशा के द्वारा अहन्ता को बड़ा आश्वासन मिलता है। मनुष्य आशा के द्वारा ही ज्ञात और अज्ञात के बीच सेतु बाँधा करता है—ज्ञात उसका अतीत है और अज्ञात उसका भविष्य है। मनुष्य शाश्वतकाल तक अपना आश्वासन (सिक्यूरिटी) चाहता है। आश्वासनहीन विचार उसे भाता नहीं। लेकिन क्या इस व्यक्त संसार में आश्वासन कहीं है भी? व्यक्तमात्र स्वभाव से ही परिवर्तनशील है। गीता कहती है कि जो जन्म लेता है, उसे मरना ही है। जब यह स्थिति है, तब इस व्यक्त जगत् में जिसे हम आश्वासन मानते हैं, क्या वह सर्वथा अनाश्वासन ही नहीं है? तब प्रश्न यह है कि इस परिणामशील जगत् में आश्वासन है कहाँ? श्रीकृष्ण अर्जुन को वास्तविक आश्वासन का मार्ग बता रहे हैं—'सारे कर्मों को मुझे समर्पित कर दो।'

भगवद्गीता में 'मुझे' शब्द का प्रयोग बार-बार आता है। इस 'मुझे' का अर्थ समझ लेना चाहिए। क्या कृष्ण यह चाहते थे कि अर्जुन आँख मीच कर कृष्ण की बात मान ले? क्या वह यह सूचित करना चाहते थे कि शिष्य के लिए गुरु ही एक मात्र गति है, एकमात्र आश्वासनस्थान है? इस 'मुझे' शब्द को ठीक से समझे बिना गीता के पूरे मन्तव्य को हम हृदयंगम नहीं कर सकते। क्योंकि प्रायः पूरी गीता इसी 'मुझे' शब्द के इर्दगिर्द ही घूमती है, इसी को केन्द्र बना कर वह फैली है। इस शब्द को समझने के लिए हमें सप्तम अध्याय के २४ वें श्लोक को देखना होगा। वहाँ कहा है :

> अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः,
> परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।

—'बुद्धिहीन लोग मेरे परम भाव को, सर्वोत्कृष्ट और अव्ययस्वरूप को न जानते हुए मुझे अव्यक्त को व्यक्त हुआ मानते हैं।'

अनन्त परिणामिता के बीच अपरिणामी अविकारी जो तत्त्व है वही गीता का 'मुझे' है। श्रीकृष्ण का आशय निश्चित ही उस व्यक्त से नहीं है, बल्कि

निस्सन्देह उस अजन्मा और अव्यक्त से ही उसका तात्पर्य है। गीता जिस समर्पण की बात कहती है वह उसी अव्यक्त, अज्ञात, अजन्मा को समर्पण करने की बात है न कि व्यक्त और ज्ञात को। व्यक्त के प्रति किये जानेवाले किसी भी समर्पण के पीछे किसी न किसी हेतु का होना अनिवार्य है जिसके साथ तत्सम्बन्धी आशा भी जुड़ी होती है। युगों से अध्यात्म के दुरुपयोग का यही व्यक्तविषयक समर्पण मूल आधार रहा है। गीता 'मुझे' शब्द के प्रयोग के द्वारा अज्ञात और अव्यक्त की ओर इंगित कर रही है। आसक्ति-रहित सम्यक् कर्म अव्यक्त, अजन्मा के प्रति किये जानेवाले समर्पण से ही निष्पन्न हो सकता है। आसक्तिरहित कर्म का कर्ता 'मैं' नहीं है, स्वयं अव्यक्त है। यह व्यक्त तो उस अव्यक्त का एक माध्यम है, जिससे वह काम लेता है। यही अनासक्ति का वास्तविक स्वरूप है।

मनुष्य का मूल स्वरूप उस अव्यक्त में ही विद्यमान है। जब वह व्यक्त होता है, कुछ बनने की आकांक्षा लेकर होता है, तब कृत्रिम और कल्पित स्वभाव के अधीन होता है। यह कल्पित स्वभाव कालक्रम से इतना प्रबल हो जाता है कि मनुष्य उसके अधीन होकर अपने मूल स्वभाव को ही भूल जाता है। फिर भी वह मूल स्वरूप नष्ट नहीं हो जाता, शीघ्र हो या विलम्ब से वह स्वरूप उस कल्पित स्वभाव के आवरण को हटा कर बाहर निकलता ही है। इसीलिए गीता कहती है :

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

—'समस्त भूत अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं, निग्रह किस कामका?' यहाँ प्रकृति का अर्थ आदत नहीं है, मनुष्य तथा पदार्थों का वह मूल स्वभाव है जो अपरिवर्तनीय है। वह इस अनन्त परिवर्तन के बीच अपरिवर्तनीय और अटल तत्व है। जो मनुष्य अपने कल्पित स्वभाव के अधीन होकर उसीके अनरूप काम करने लगता है वह राग-द्वेष के वश हो जाता है, आसक्ति और विरक्ति का शिकार हो जाता है। इनको गीता 'परिपन्थी'—राहजनी करनेवाले, बीच मार्ग में लूट लेनेवाले कहती है। राग-द्वेष-रूपी विरोधात्मक द्वन्द्व उस कल्पित स्वभाव की ही अभिव्यक्ति हैं। अनासक्त मनुष्य मूल स्वभाव के अनुसार चलता है, उसमें कोई हेतु नहीं होता, कामना लेश भी नहीं होती। गीता के निम्न श्लोक में सही कर्म के सम्बन्ध में बड़ा ही सुन्दर एक मौलिक सिद्धान्त कहा गया है :

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

—'परधर्म चाहे जितना सुचारु रूप से अनुष्ठित क्यों न हो, तो भी स्वधर्म ही श्रेयस्कर है, भले वह विगुण ही हो। स्वधर्माचरण करते हुए मृत्यु पा जाना उत्तम है, परन्तु परधर्म भयानक है।'

मनुष्य के स्वधर्म के बारे में गीता यहाँ निश्चित मत व्यक्त कर रही है। स्वधर्म मनुष्य का अपना सही स्वरूप है, मूल स्वभाव है, उसकी बुनियादी और मौलिक प्रकृति का नाम है। परधर्म उस स्वभाव का नाम है जो मनुष्य द्वारा कल्पित या आरोपित होता है, स्वेच्छा से गृहीत होता है। यह कल्पित स्वभाव रागद्वेष और अनुरक्ति विरक्ति की उपज है, यह सदा आत्मरक्षा और आत्मविस्तार के लिए होता है। इसका मूल अखण्डता और आश्वासन की कामना में है। यह कल्पित स्वभाव ही परधर्म है, क्योंकि उसका निर्माण बाह्य परिस्थिति के दबाव से हुआ होता है। गीता कहती है—'स्वधर्म का पालन करते हुए मृत्यु पा जाना उत्तम है, क्योंकि परधर्म भयानक है।'

कुछ बनने की आकांक्षा चूँकि स्वधर्म से नहीं निकलती है, अपनी मूल स्थिति (बोईंग) से निष्पन्न नहीं होती है, इसलिए निराशा की जननी होती है, और इसीलिए वह भयानक है। कर्म वही सही है जो स्वयम्भू है, साहजिक है, मनुष्य के निज स्वभाव से उत्पन्न होता है और इसलिए वह सर्वथा अहैतुक होता है, निष्काम होता है।

अर्जुन श्रीकृष्ण से कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछता है : 'मनुष्य को पाप में प्रवृत्त करनेवाला कौन है?' यह जानते हुए भी कि यह पाप है, मनुष्य उसी में लगता है, यह कौन प्रेरित करता है, ? 'क्या पाप-कर्म करने के लिए उसे बाध्य करनेवाला कोई है?'

श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'हाँ, बाध्य करनेवाली एक शक्ति है और वह है 'काम और क्रोध, राग और द्वेष।' इस काम-क्रोध को श्रीकृष्ण विशेषण जोड़ रहे हैं कि 'ये—सर्वभक्षक हैं, परम पापी हैं, इनकी तृप्ति होती ही नहीं है, और ये रजोगुण से अर्थात् मन की अन्तहीन प्रवृत्तिमयता से उत्पन्न हैं। मनकी अन्तहीन प्रवृत्तिमयता मनुष्य के आन्तरिक दबाव के कारण ही होती है। जिस प्रकार अग्नि पर धुएं का आवरण होता है, दर्पण पर धूल की परत होती है, उसी प्रकार मनुष्य का ज्ञान भी मनकी इस अखण्ड प्रवृत्ति—

मयता से आच्छादित होता है, आवृत होता है। यह राग-द्वेष तथा काम-क्रोधात्मक द्वन्द्वों के बीच भटकता रहता है। मन के संचार का मुख्य कारण यही 'कुछ बनने' की आकांक्षा है और यही आकांक्षा मनुष्य को सही कर्म के, स्वधर्म के मार्ग से भटकाती है, पथभ्रष्ट करती है। इन्द्रियाँ और विचार -स्थूल और सूक्ष्म दोनों-मनःसंचार के क्षेत्र हैं, 'कुछ बनने की आकांक्षा' में तन्मय रहने के स्थान हैं। निश्चित ही मनुष्य जब तक मन की मर्यादाओं को पार नहीं कर जाता, तब तक सही ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। मन की इसी संकीर्णता और सीमा को ध्यान में रख कर श्री कृष्ण कहते हैं :

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।

—'मुनिजनों का कहना है कि इन्द्रियाँ पर हैं, यानी श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से श्रेष्ठ है—मन, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है। परन्तु बुद्धि से भी पर 'वह' (ब्रह्म) है।

गीता बुद्धि को मन से श्रेष्ठ बता रही है। मन ज्ञान एकत्रित करता है, बुद्धि दृष्टा प्राप्त कराती है। ज्ञान द्विविध है। कल्पनामूलक ज्ञान, और स्थितिमूलक ज्ञान। मन तो पदार्थों को केवल बाहर से जान सकता है; क्योंकि उसका ज्ञान आकारनिष्ठ है (स्ट्रक्चरल)। परन्तु वास्तविक ज्ञान तब आता है जब ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है, द्वैत समाप्त होता है; और यही है स्थितिमूलक ज्ञान। श्रीकृष्ण अर्जुन को मन से परे उठने को कहते हैं, क्योंकि तभी 'कुछ बनने' की कामना का बोझ दूर होता है, उसका दबाव मिटता है वह दबाव जो मनुष्य को स्वधर्म से विमुख करता है, पथभ्रष्ट करता है। परन्तु मन से परे उठा कैसे जाय ? इसी प्रश्न का समाधान गीता आगामी अध्यायों में करनेवाली है। वह ऐसा मार्ग बता रही है जो ज्ञानमय आलोक की ओर जाता है, जहाँ मनुष्य के सारे संशय मिट जाते है और जीवन की प्रचण्ड आँधी में भी वह सुदृढ़ खड़ा रह सकता है।

चतुर्थ अध्याय

कर्म-रहस्य

मानव-जीवन वास्तव में दो धाराओं का संगमस्थल है—एक आरोहण की धारा है, और एक अवरोहण की धारा है। इस आरोहण की धारा के बाह्य स्वरूप का अध्ययन भौतिक विज्ञान करता है और इसकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति का अध्ययन मनोविज्ञान करता है। परन्तु अवरोहण की धारा धर्म के विवेचन का विषय है : और सही शब्दों में कहना हो, तो वह आत्मविद्या का विषय है। मानव-जीवन की गुणवत्ता इसी अवरोहण-धारा से निष्पन्न होती है। इसके बिना जीवन गुणहीन हो जाय। आरोहण की धारा में विविधता अवश्य है, परन्तु यदि उसमें अवरोहण की धारा का प्राणवान संस्पर्श नहीं रहा, तो वह वैविध्य भी नीरस हो जाय, यांत्रिक हो जाय। ऐसा होने पर स्वयं वैविध्य भी क्षीण होता जाता है, मनुष्य-व्यक्ति तथा मनुष्य-समाज दोनों का पतन प्रारम्भ होता है। जब-जब ऐसी स्थिति होती है तब-तब कोई नयी प्रेरणा, नया आविर्भाव—उसे रहस्य कहें या कुछ भी नाम दें—व्यक्ति तथा समाज को उठाता है, उसमें चैतन्य भरता है। इस प्रक्रिया में समाज के अन्दर जो भी पुराना ढाँचा और जीर्ण-शीर्ण आकार होगा, वह सब नष्ट हो जाता है और भावी विकास की क्षमता रखनेवाला नया रूप पुष्ट और समृद्ध होता है। इस प्रकार के नव चैतन्य के आविर्भाव की कल्पना संसार के सभी धर्मों में दिखाई देती है; परन्तु हिन्दू-धर्म में जितनी स्पष्टता से इस विचार का शोधन हुआ है, उतना शायद ही किसी दूसरे धर्म में हुआ होगा। हिन्दू-धर्म में इस आविर्भाव को अवतार नाम दिया गया है। श्रीकृष्ण ने गीता के निम्न दो श्लोकों में इस अवतार-कल्पना का सुस्पष्ट और निःसन्दिग्ध शब्दों में वर्णन किया है :

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

—'जब कभी धर्म का पतन होता है, अधर्म का प्रसार होता है, तब हे भारत, मैं स्वयं किसी न किसी रूप में प्रकट होता हूँ। सज्जनों का रक्षण और दुर्जनों का संहार करने के लिए तथा धर्म की संस्थापना करने के लिए मैं प्रत्येक युग में आविर्भूत होता हूँ।'

बाह्य रचना के जर्जर और शिथिल होने पर जो नवीन प्रेरणा प्रादुर्भूत होती है, सत्य का जो जीवित संस्पर्श होता है, वही अवतार है। मानव-संस्कृति का इतिहास साक्षी है कि जब-जब मनुष्य पर विपत्तियाँ और संकट आ पड़े हैं, तब-तब नव-नव अवतारों का चमत्कार बराबर प्रकट होता रहा है। प्रश्न उठ सकता है कि जो अजन्मा है, उसका कैसे प्रादुर्भाव हो सकता है? अव्यक्त कैसे व्यक्त हो सकता है? ऐसा होता हो तो अव्यक्त अव्यक्त कैसे? उसके पुनः-पुनः 'सम्भव' का क्या यही अर्थ नहीं कि वह भी जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसा है?

जो अव्यक्त है, वह तो सदा अजन्मा ही रहनेवाला है। अवतार उस अव्यक्त का व्यक्त में रूपान्तरण नहीं है। तो फिर इस सम्भूति का रहस्य क्या है? इस रहस्य को समझने के लिए शायद सूर्य की उपमा कुछ हद तक उपयोगी हो सकती है। सूर्य प्रतिक्षण करोड़ों किरणें बिखेरता रहता है। फिर भी, इन किरणों के निकल जाने पर भी, सूर्य क्षीण नहीं हो जाता, उसका तिलमात्र भी ह्रास नहीं होता। अनन्त भव्य तेजोराशि के रूप में सूर्य अपने स्थान में सुस्थिर है। फिर भी सुदूर पृथ्वी के कोने-कोने का अन्धकार मिटाने का काम करता है, आलोक प्रसारित करता है। सौर मण्डल के अन्तर्गत समस्त तारों और ग्रहों का पोषण और धारण करने का काम भी यथावत् निरंतर करता है। इतने विशाल और महान् कार्यकलाप के होते हुए भी धरती के कोने में उपजे हुए द्राक्षागुच्छ को पकाने के लिए भी वह समय निकालता ही है। वह द्राक्षागुच्छ सोचता होगा कि सूर्य का अस्तित्व उसी के लिए है। सूर्य की यह महिमा है कि वह एक साधारण द्राक्षागुच्छ को पकाने में भी पर्याप्त ध्यान देता है। सूर्य अपना स्थान छोड़ता नहीं है, फिर भी पकने को तैयार द्राक्षागुच्छ के लिये उसकी आवश्यकतानुरूप उष्णता बराबर देने में तत्पर रहता है। अवतार-रहस्य भी ऐसा ही है। अवतार में अव्यक्त व्यक्त नहीं हो जाता है, फिर भी अव्यक्त का अस्तित्व उन आलोक-रश्मियों में देखा जाता है जो वह व्यक्त विश्व के पोषण के लिए

और उसमें प्राणसंचार कराने के लिए प्रेरित करता है। इसमें उस अव्यक्त की कोई क्षति नहीं होती है। वह जो रश्मियाँ भेजता है, जो संसार की मरी हुई और मर रही आकृतियों में प्राण फूकती है और चैतन्य जगाती है, वे ही उस अव्यक्त की पूर्णता की साक्षी हैं। उसके अस्तित्व की अविकलता की द्योतक हैं। अवतार के इस तत्त्व का वर्णन करते हुए गीता कहती है:

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।

—यद्यपि मैं जन्मरहित हूँ, यह आत्मा अव्यय है, अक्षयहै, मैं समस्त भूतों का स्वामी हूँ, तो भी मैं निज प्रकृति के आधार पर अपनी माया के द्वारा प्रकट होता हूँ।

यद्यपि वह अजन्मा अपनी निज प्रकृति में ही अधिष्ठित है, फिर भी माया-शक्ति के द्वारा वह जन्म लेता है। माया-शक्ति ही सर्जक शक्ति है, सृष्टि-कर्त्री है। अजन्मा अपना स्थान छोड़ता नहीं है, परन्तु व्यक्त रूप में आविर्भूत होता है। यह वैसा ही है जैसा सूर्य का रश्मिविकिरण है, जो सौरमण्डलान्तर्गत सुदूरस्थ कण-कण को धारण करने, उसे पोषण देने और उसका विकास करने के लिये होता है। सूर्य की किरणें सर्वत्र फैलती हैं—विपन्न की झोपड़ी में भी, और सम्पन्न के प्रासाद में भी, रमणीय उपवनों में भी और गंदी बस्तियों में भी। फिर भी उस स्पर्श से वे लेशमात्र भी दूषित या मलिन नहीं होती हैं, सर्वदा अस्पृष्ट और असम्पृक्त ही रहती हैं।

श्रीकृष्ण ने आगे निष्कामकर्म का विशद विवेचन करने के हेतु से यहाँ अवतार की चर्चा की है, कहते हैं:—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।

—'गुणों और कर्मों के विभेद के अनुरूप चार वर्णों की सृष्टि मैंने की है; यद्यपि मैं अकर्त्ता हूँ, अविकारी हूँ, फिर भी मुझे उनका कर्ता समझो।'

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि वे चातुर्वर्ण्य के निर्माता हैं, अर्थात् मनोवृत्ति के अनुरूप कर्मों का विभाजन तथा संयोजन करनेवाली सामाजिक व्यवस्था के रचयिता हैं, तथापि वे स्वयं इस कर्म से अलिप्त हैं; इसके परिणाम से मुक्त हैं।

श्रीकृष्ण अर्जुन को सूचित करना चाहते हैं कि जो मनुष्य मुझे मेरे वास्तविक रूप में देख सकता है, अर्थात् कर्ता होते हुए भी कर्तृत्व-रहित देख सकता है वही समस्त कर्म-बन्धनों से मुक्त होता है। इस प्रकार अकर्मता युक्त कर्म को देखना ही वस्तुतः सम्यक् कर्म को अर्थात् कर्मयोग की आधारभूमि है। 'अकर्म' से ही आसक्तिरहित कर्म की निष्पत्ति हो सकती है।

यह अकर्म क्या है? क्या यह निष्क्रियता से भिन्न है? इसमें क्या कर्ममात्र का निषेध है? श्रीकृष्ण कहते हैं :

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

—'कर्म क्या है, अकर्म क्या है—यह समझने में विद्वान् भी भ्रमित हो जाते हैं। इसलिए मैं तुम्हें बताता हूँ कि कर्म क्या है; जिसे जानने से तुम अशुभ से मुक्त होगे।'

नाना प्रकार से प्रक्षुब्ध जीवन में उलझने के कारण मनुष्य प्राप्त परिस्थिति के उचित उपाय खोजने में भ्रान्त दिङ्मूढ़ हो जाता है। मनुष्य के सामने प्रायः यह समस्या विकट रूप से खड़ी होती है कि करें या न करें। अधिकतर प्रसंगों में कर्म के कारण मनुष्य असमंजस में पड़ता है, परन्तु ऐसे भी प्रसंग आते हैं जब कर्म न करने के कारण अर्थात्, निष्क्रियता के कारण मनुष्य की बड़ी दुर्गति होती है। मानव क्या करे? इस जटिल समस्या को श्रीकृष्ण इस श्लोक में बड़ी स्पष्टता के साथ रख रहे हैं:—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।

—'मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि कर्म क्या है, विकर्म क्या है; उसी प्रकार यह भी जानना चाहिए कि अकर्म क्या है। सचमुच कर्ममार्ग बड़ा गहन है।'

कर्ममार्ग की चर्चा के प्रसंग में श्रीकृष्ण तीन शब्दों का प्रयोग करते हैं—कर्म, विकर्म, और अकर्म। इन तीनों शब्दों का अर्थ क्या है? यदि हम जान लें कि विकर्म क्या है, तो शायद यह भी समझ जायेंगे कि कर्म क्या है तथा अकर्म क्या है। सामान्यतया विकर्म का अर्थ विरुद्ध कर्म, विपरीत कर्म या अधार्मिक कर्म किया जाता है। लेकिन विकर्म का अर्थ ठीक से प्रकट करने के लिए शायद 'प्रति

कर्म' या 'प्रतिक्रिया' (रिएक्शन) अधिक सही शब्द हैं। प्रायः हम जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए और चुनौतियों के उत्तर के लिए कर्म करने की जगह विकर्म करते हैं, अर्थात् प्रतिक्रिया के वश होते हैं। स्मरण रखने की बात यह है कि कर्म कभी बन्धन-कारक नहीं होता, बन्धन तो विकर्म से होता है। बांधने वाली तो प्रतिक्रिया है। मनुष्य प्रतिक्रियाओं की शृंखला में आबद्ध हो जाता है। वह गलती से यह मान लेता है कि कर्म बन्धनकारक होते हैं और इसीलिए कर्म से छुटकारा पाने का प्रयत्न करने लगता है। लेकिन कर्म से तो छुटकारा मिलता नहीं, क्योंकि जीवन ही कर्म है। जीना यानी कर्म करना है। लेकिन हां, विकर्म से, प्रतिक्रिया से, अवश्य मुक्ति मिल सकती है। मनुष्य में पूर्व-स्मृतियों की जागृति के कारण प्रतिक्रियाएं हुआ करती हैं। किसी भी प्रतिक्रिया में हम देखते हैं कि वर्तमान समस्या का समाधान अतीत में खोजने का, परिचित परिभाषाओं में ढूंढने का, हम प्रयत्न करते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रतिक्रिया तब हुआ करती है, जब हम वस्तुओं को उस रूप में नहीं देखते हैं जिस रूप में वे हैं। विकृत मनोदशा में प्रतिक्रिया का होना निश्चित है। प्रतिक्रिया में कर्ता प्रमुख हो जाता है जो कि नित्यता की तलाश में रहता है, और वही कर्ता कर्म को 'मैं' के स्पर्श से कलुषित करता है। इसलिए समस्त प्रतिक्रियाओं को पूर्णतया नष्ट किये बिना 'कर्म' हो ही नहीं सकता। विकर्म के अर्थात् प्रतिक्रिया के अभाव में ही कर्म का अस्तित्व है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जब प्रतिक्रियामात्र का अभाव होता है, सभी प्रतिक्रियाएं समाप्त हो जाती हैं, उसी अवस्था को गीता ने 'अकर्म' दशा कहा है। अकर्म की भूमिका में ही सही कर्म निपजता है। गीता कहती है :

> कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।

—'जो कर्म में अकर्म देखता है, अकर्म में कर्म देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, समस्त कर्म करते हुए भी युक्त है।'

इस श्लोक में कर्म और अकर्म का सहभाव (जोइण्ट फिनोमिनन) व्यक्त किया गया है। इस सहभाव में ही अर्थात् अकर्म की भूमिका में ही कर्म सहज और अनायास सम्पन्न होता है। जो सहज कर्म होता है, जो प्रयत्नसाध्य नहीं है वही निष्काम कर्म होता है, अहेतुक कर्म होता है और अनासक्ति का गुण

उसीमे से व्यक्त होत हैं। स्वयंस्फूर्त, सहज कर्म में ही मनुष्य का परिपूर्ण अस्तित्व विद्यमान हैं और वह कर्म करते समय मनुष्य 'युक्त' होता है, युक्त अवस्था में होता हैं। ऐसे कर्म में यह चमत्कार दिखाई देगा कि अंश में ही पूर्णता समायी हुई है, अंग में ही समग्र का वास है। अकर्मावस्था पूर्णता की अवस्था हैं, समग्रता की अवस्था हैं, युक्तावस्था हैं। कर्म अथवा अभिव्यक्ति कभी भी आंशिक ही होती है। इसलिए अकर्म को भूमिका से रहित कोई भी कर्म अपूर्ण ही गोचर होगा, संगतिहीन ही होगा। उसमें यह स्पष्ट दिखाई देगा कि कई टुकड़े यो ही जुट गये हैं मानो कोई भूलभुलैया हैं, उनमें कोई सामजस्य नहीं, समग्रता नही; पूर्ण दर्शन नही। ऐसी बिखरी हुई स्थिति में अंश का अप्रतिष्ठित होना, अपना समुचित स्थान न पाना अनिवार्य हैं। अब अंश सही स्थान नहीं पाता हैं, तभी पाप का प्रवेश होता है, बुराई घुस आती हैं। इसलिए जो कर्म अकर्म भूमिका से उत्पन्न नही होता, वही पाप है, वही बुराई है उसमें आसक्ति का तत्त्व निहित होता हैं और इसीलिए वह बन्धनकारक होता हैं।

तो, वह अकर्मदशा कौन सो हैं, जिनमें कर्म को पूर्णता प्राप्त होती हैं? गीता कहती हैं :

> यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः
>
> ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।

—'जिस मनुष्य के सारे आरम्भ कामना और संकल्प से रहित होते हैं, जिसके सारे कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हैं, उसे बुधजन ज्ञानी मानते हैं।'

यहाँ कर्म दाह का अर्थ निश्चित ही विकर्म दाह है, प्रतिक्रिओ का जल जाना है। प्रतिक्रियाएँ कब जल जाती हैं? गीता कहती है, यह तब जलती हैं—'जब आरम्भ मात्र काम-संकल्प-रहित होते हैं' मन, कामना और संकल्प इन दो युग्म तत्त्वो से बना रहता है। कामना ही मनोगति का आधार है। यदि आरम्भमात्र को कामना और संकल्प से दूर रहना है, तो इसका अर्थ यही है कि मन को गतिहीन हो जाना है। दूसरे शब्दों मे, अकर्म दशा का अर्थ है मन की स्थिर दशा, अविचल अवस्था। मन को सुस्थिर शांति में, ही ज्ञान सुमन कुसमित हो सकता है, और एक ज्ञानी ही जान सकता है कि सम्यक् कर्म क्या है, कर्मयोग क्या है। इस अनासक्त पुरुष को, कामना और संकल्प से रहित ज्ञानी को भगवद्गीता 'नित्यतृप्त, और निराश्रय' कहती है। इस प्रकार का पुरुष अपने मानसिक अस्तित्व के लिए न किसी वस्तु का सहारा खोजता

है, न किसी व्यक्ति का आश्रय ढूंढता है, उसे न किसी आधार की आवश्यकता है, न किसी अवलम्ब की। क्योंकि वह आत्मतृप्त है, आत्मनिर्भर है। वास्तविक सन्तोष तो आत्मनिर्भरता में ही है, परन्तु तृप्त पुरुष की ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए कि वह निष्क्रिय, अकर्मण्य, सुस्त और अपने आप में मस्त रहनेवाला मनुष्य होगा। तृप्तावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसमें मन की गति समाप्त हो चुकी होती है, परन्तु उसमें सर्वथा भिन्न एक और गति प्रारम्भ हो गयी होती है। इसलिए स्थिर चित्त में दोनों शक्तियाँ—अचंचलता और वेगवत्ता—(स्टिलनेस और डायनेमिज्म) एक साथ प्रकट होती हैं। अनासक्त पुरुष का वर्णन करते हुए गीता आगे कहती है :

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।

—'वह आशाएँ छोड़ेगा, उसका चित्त संयत और शांत होगा, वह समस्त परिग्रह त्याग देगा; केवल शारीरिक कर्म करते हुए वह पापभोग से मुक्त रहेगा।'

अनासक्त पुरुष परिग्रह का त्याग करेगा—यहाँ भौतिक परिग्रह की बात उतनी नहीं है, जितनी मन के परिग्रहों की है। विचारों और संकल्पों से ग्रसित मन लोभी होता है। आशाओं से भरा होता है। इसीलिए निराशाओं का भी शिकार होता है और वह जो भी करेगा उस में मानसिक सन्तुष्टि पाने की बात होगी। गीता कहती है कि अनासक्त पुरुष 'केवल शारीरिक कर्म करने वाला' होता है। उसका चित्त शांत और निश्चल रहता है। विख्यात बौद्ध ग्रन्थ—'वायस ऑफ दि सायलन्स' (मौन की वाणी) में इस कर्म-अकर्म के विषय का विवेचन करते हुए श्रीमती एच० पी० ब्लावॅट्स्की लिखती हैं—"कर्म और अकर्म दोनों तुझमें एकसाथ हो सकते हैं—शरीर कर्मरत होगा, मन प्रशान्त होगा और तेरी आत्मा पर्वत के समान निर्मल होगी।"

केवल शारीरिक कर्म होने देने का अर्थ है स्वयं समष्टिगत मन का मात्र वाहन बनना, व्यक्तिगत मन को प्रशांत और निश्चल बनाना। अनासक्त पुरुष जीवन को उसी रूप में ग्रहण करनेवाला होता है, जैसा वह प्राप्त होता है और उस ग्रहण को ही सम्यक् कर्म का प्रारम्भ-बिन्दु मान कर वह चलता है। उस पुरुष का वर्णन गीता इन शब्दों में कर रही है :

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते

—'ईश्वरेच्छा से जो भी मिलता है, वह लेता है, उसी से संतोष करता है। सुख और दुःख से वह पीड़ित नहीं होता है; लाभ और हानि में वह लिप्त नहीं होता। वह किससे मत्सर करे? वह कर्म करता है, लेकिन उसके कर्म बाँधनेवाले नहीं होते हैं।'

यदि अकर्म दशा की प्राप्ति के लिए प्रतिक्रियाओं से मुक्त होना आवश्यक है तो प्रश्न यह आता है कि उन प्रतिक्रियाओं से अर्थात् विकर्म से मुक्ति कैसे मिले? यह निश्चित है कि प्रतिक्रिया से मुक्त होने के लिए यत्न-पूर्वक किया जानेवाला कोई भी भावात्मक (पोजिटिव) कर्म स्वयं एक प्रतिक्रिया होता है। इस प्रयत्न से होता यही है कि एक प्रकार की प्रतिक्रिया का स्थान दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया लेती है। बहुधा यह पहली की विपरीत होती है। दूसरी प्रतिक्रिया निर्माण करके प्रतिक्रिया को समाप्त नहीं किया जा सकता। प्रतिक्रिया से मुक्ति पाने के लिए अभावात्मक प्रक्रिया अपनानी होती है, सम्बन्धविच्छेद का मार्ग लेना होता है। अध्यात्मसाधक जब इस प्रतिक्रिया की प्रक्रिया को जान लेता है, तब प्रतिक्रिया स्वयमेव बन्द हो जाती है। यह सावधानता का उपाय ही अभावात्मक प्रक्रिया है। 'नेति नेति'—यह नहीं, यह भी नहीं है, यह भी नहीं है—इस प्रकार कहते हुए—'निरन्तर निषेध करते जाते हैं, तभी आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं, आध्यात्मिक अनुभूति की पराकाष्ठा तक पहुँच सकते हैं। अकर्मावस्था निषेध की उच्चतम अवस्था है परन्तु पूर्ण निषेध के क्षण में 'परम पूर्णता' (ट्रान्सेण्डेण्टल फुलनेस) का अनुभव आता है। वस्तुतः अकर्मावस्था में शून्यता और पूर्णता दोनों का विलक्षण समागम है। अतः यदि मनुष्य अकर्मावस्था तक पहुँचना चाहता है तो उसे अखण्ड निषेध-प्रक्रिया में लगे रहना होगा और उसी से सम्यक् कर्म या कर्मयोग का उदय होगा। गीता ने विभिन्न यज्ञों की मीमांसा के प्रसंग में जिस बात की चर्चा की है वह निषेध-प्रक्रिया की ही चर्चा है। हमने देखा है कि यज्ञ का अर्थ है साक्षी रहना। यह तभी सम्भव है जब हम निषेधात्मक अथवा निर्लिप्त कर्म का आचरण करते हैं। गीता में यज्ञों की चर्चा करते समय आहुति, हव्य, होम, अग्नि आदि शब्दों के द्वारा इसी निर्लिप्त स्थिति का, इसी निषेध स्वरूप का संकेत किया गया है। वह हवन-सामग्री कुछ भी हो-चाहे इन्द्रियाँ हों, श्वास—निःश्वासादि प्राणवायु हो,

स्थूलद्रव्य हों, चाहे धार्मिक व्रतादि अनुष्ठान हों—उसका स्वरूप कुछ भी क्यों न हो, उसका तात्पर्य इसी निर्लिप्तता से है, निषेध से है। गीता के अनुसार सभी यज्ञों में उत्कृष्टतम यज्ञ ज्ञानयज्ञ है। गीता कहती है :

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप।

—'हे वीर, सब प्रकार के द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेयस्कर है।'

ज्ञानयज्ञ का अर्थ क्या है? क्या प्रज्ञा-प्राप्ति के लिए ज्ञान का भी निषेध करना होगा? यह सत्य है कि वास्तविक ज्ञान के लिए अन्य ज्ञान भी बाधक होते हैं। मन का सर्वाधिक प्रिय परिग्रह तो उसके द्वारा चिरसंचित ज्ञान ही है। ज्ञान-संचय भी निश्चित ही आत्मा का वेष्टन करने वाली दीवार है जो मनुष्य को साक्षात् जीवन के चिर नूतन और प्राणवान् संस्पर्श से वंचित कर रखती है। ऐसी दीवार के अन्दर आबद्ध रहना सर्वथा जडता और सड़ांध में पड़ना है। ज्ञान-संचय से मन बोझिल और अकर्मण्य हो जाता है, मन कड़ा पड़ जाता है, और इसलिए संवेदनाशून्य हो जाता है। जो मन ज्ञानभार से दबा पड़ा है, वह कभी भी नया ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकेगा। मनुष्य जिन प्रतिक्रियाओं में निबद्ध है, लिप्त है, उनकी जड़ इसी ज्ञानभण्डार में है। ज्ञान केन्द्र से ही मनुष्य प्रतिक्रिया के वश होता है। यह ज्ञान अतीत का प्रतीक है। अतीत जो मर चुका है, वास्तविकता को कैसे समझ सकेगा, जो कि चिरंजीव है, गतिमान् है? आखिर मन के ज्ञान का स्वरूप क्या है? मन तो केवल वस्तुओं का आकार ही जान सकता है; वस्तु के सार को, उसके हार्द को नहीं समझ सकता। मन का ज्ञान खोखला है, निःसत्व है। ठीक ही कहा गया है कि—'जो जानता है कि वह नहीं जानता, वही जानता है वही ज्ञानी है।' जो मन के ज्ञान की इस निःसत्वता के प्रति सजग है, सावधान है, और इसी लिए 'नेति-नेति' कह कर इसका निषेध करता जाता है उसका यह निषेध ही वास्तविक ज्ञान का प्रारम्भ है। मनुष्य जब ज्ञान का निषेध कर देता है, तभी वह उस 'अज्ञात' की देहरी पर कदम रखता है और उस अज्ञात में ही मृत्यु तथा जीवन के रहस्य को समझने की कुंजी विद्यमान है। मनुष्य प्रतिक्रिया से यानी विकर्म से तब मुक्त होता है जब ज्ञान भी खण्डित हो जाता है, निषिद्ध हो जाता है। क्योंकि ज्ञान-खण्डन में ही प्रतिक्रियाकेन्द्र का विघटन हो जाता है, मनुष्य अकर्म की अत्युन्नत अवस्था तक पहुँचता है। और वही अवस्था है,

जहाँ से सम्यक् कर्म का उदय होता है। इसीलिए गीता बहुत सही कहती है कि 'समस्त द्रव्ययज्ञों से ज्ञानयज्ञ बड़ा है, श्रेयस्कर है।'

ज्ञानयज्ञ का यह तो अर्थ नहीं है कि मन को जड़ और संवेदनाशून्य बना दिया जाय ? जिस व्यक्ति की इंद्रियाँ विशुद्ध न हों वह सेवाकर्म में कैसे लग सकेगा ? क्या भावनामय संवेदनशीलता विनम्र श्रद्धा का रूप नहीं है ? इस में शंका नहीं कि हृदय जब श्रद्धामय होता है, विशुद्ध होता है, तभी उससे स्वयं-स्फूर्त सहज श्रद्धा निःसृत होती है। जो श्रद्धा सहज और स्वयंस्फूर्त नहीं है, वह श्रद्धा ही नहीं है। निरायी हुई श्रद्धा के मूल में भय होता है और इसलिए उसके पीछे आत्माराधन (सेल्फ ग्रैटिफिकेशन) का हेतु होता है। मन की सजग और संवेदनशील अवस्था ही तो जिज्ञासा है, परिप्रश्न है। जड़ता से आक्रान्त मन जिज्ञासु कैसे हो सकता है ? जिज्ञासु मन तो खुला होना चाहिए—चाहे जिस बात के लिए खुला नहीं, खुलेपन की विशिष्ट अवस्था में होना चाहिए ताकि सत्य का ग्रहण कर सके, फिर वह सत्य कहीं से प्राप्त क्यों न हो। ज्ञानयज्ञ के तुरन्त बाद श्रद्धा, प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा से सम्बन्धित श्लोक देखकर हम सहज ही इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि गीता जिस अवस्था की चर्चा कर रही है वह असाधारण संवेदनशीलता की, सम्पूर्ण अस्तित्व की संशुद्धि की अवस्था है ; जड़ता से आक्रान्त, कुंद और संवेदनाहीन मानवीय चेतना की स्थिति नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य का मन तभी संवेदनाशील हो सकता है जब वह संचित ज्ञान के भार से सर्वथा मुक्त हो। जो मन ज्ञान प्राप्त करे, परन्तु उसे संचित न करे, वही वस्तुतः अत्यन्त सजग और पूर्ण संवेदनाशील होता है। वह स्वच्छ दर्पण के समान होता है; सामने जो भी आया उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में अवश्य दीखेगा, परन्तु दर्पण उससे लिप्त नहीं होगा। उसे पकड़कर नहीं रखेगा। दर्पण यदि अपने में प्रतिबिम्बित होनेवाले सभी रूप संचित करके रख लेता, तो वह दर्पण ही नहीं रह जाता। संवेदनशील मन दर्पणवत् काम करता है—उसमें प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ेगा, परन्तु वह धूल जमा नहीं कर लेता। जो मन ज्ञान रूप धूलि से सर्वथा असंपृक्त है, निर्मल है, वह एक प्रशान्त, स्तब्ध सरोवर के समान होता है जिसमें युगों-युगों की प्रज्ञा प्रतिबिम्बित होती है। आत्मवान् पुरुष, अध्यात्म-सम्पन्न मनुष्य प्रज्ञा-धन होता है, जिसके चित्त में संचित ज्ञान का कोई निष्कर्ष (कण्टेण्ट) नहीं होता, ज्ञान विस्तार का पूर्ण अभाव होता है, इसीलिए वस्तुनिष्ठ पूर्णता का आकलन कर लेने को वह

सदा तैयार है। प्रज्ञावान् पुरुष ही है जिसके हाथों कर्म होता है, विकर्म नहीं, प्रतिक्रिया नहीं। श्रीकृष्ण अर्जुन से इसी लोक का वासी बनने को कहते हैं। वे आश्वासन दे रहे हैं :

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।

—'भले हो तुम पापियों में परम पापी क्यों न हो, फिर भी ज्ञान-नौका से तुम समस्त पापों को पार कर सकते हो।'

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।

—'जिस प्रकार अग्नि काष्ठ को जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, ज्ञान-रूप अग्नि समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर देता है।'

गीता का कहना है कि—'ज्ञान के समान पावन करनेवाला इस संसार में और कोई नहीं है।'—(नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते)। वास्तविक ज्ञान या प्रज्ञा मानव-चेतना की आलोकमय अवस्था का नाम है। मनोभूमि से बाहर की नयी ज्योति-रश्मियों के अवतरण से यह आलोकमयता प्रकट होती है। गीता कहती है कि ज्ञान-नौका से समस्त पापों का सन्तरण किया जा सकता है। इसका आशय यह है कि ज्ञानमय व्यवहार से, प्रज्ञा-युक्त कर्म से बन्धन निर्माण नहीं होता है। कर्म-समूह के मध्य रहते हुए भी वह कर्मरहित है, निष्कर्मी है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो श्रद्धावान् होगा वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

श्रद्धा क्या है ? अज्ञात के प्रति समर्पण ही श्रद्धा है। श्रद्धा का सम्बन्ध ज्ञात से नहीं है; जहाँ तक ज्ञात का प्रश्न है, उसमें विश्वास हो सकता है; परन्तु श्रद्धा का विषय तो 'अज्ञात' है। जो व्यक्ति श्रद्धावान् है, चूँकि ज्ञान उसे ही प्राप्त होता है, इसलिए निश्चित ही वह अज्ञात का साक्षात्कारी होगा। श्रीकृष्ण जानते हैं कि अर्जुन का मन संशयों से भरा है, सन्देहों का शिकार हो गया है। संशयमात्र का मूल है भय। मनुष्य पर छानेवाले सभी भयों में ज्ञात के खोने का भय सबसे बड़ा और बलशाली है। परन्तु जबतक हम ज्ञात का पल्ला छोड़ नहीं देते हैं, तब तक अज्ञात का साक्षात्कार होना असम्भव है। और वह अज्ञात ही श्रद्धा का विषय है, श्रद्धा-द्वारा प्राप्य है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते

है—ज्ञानरूपी खड्ग से संशयमात्र का छेदन करो, ताकि श्रद्धावान् बन सको। जीवन की चुनौतियों का प्रतीकार करने योग्य बन सको फिर वह चुनौती किसी प्रकार की क्यों न हो। यदि हम समस्त संशयों का मूलोच्छेदन कर सकें तो हम में श्रद्धा भर सकती है। ज्योंही संशय-निर्मूलन का प्रश्न आता है, त्यों ही भय की समस्या उठ खड़ी होती है, और दोनों का मल्लयुद्ध प्रारम्भ होता है। परन्तु गीता का 'युक्त'-पुरुष, आत्मनिष्ठ मनुष्य, सर्वथा निर्भय होता है।

सत्रहवें अध्याय में मनुष्य की दैवी संपदा का वर्णन करते समय श्रीकृष्ण ने अभय को प्रथम स्थान दिया है। भयग्रस्त पुरुष अनासक्तिपूर्वक कैसे चल सकता है? भय का मूल आधार ही द्वन्द्व है। इसलिए जो मन द्वन्द्वों का वशवर्ती है, द्वन्द्वों का क्रीडास्थल बना हुआ है, वह कभी नहीं जान सकता कि सम्यक् कर्म क्या है, कर्मयोग कैसा होना है। गीता ने हमें जो मार्ग दिखाया है वह निर्भयता का ही मार्ग है, भय-मुक्ति का मार्ग है। गीता के योग के एक-एक पहलू को एक-एक अध्याय में अनावृत करते हुए श्रीकृष्ण उस पथ के यात्री को आध्यात्मिक-अनुभूति के उस उन्नत शिखर की ओर हाथ पकड़ कर ले चलते हैं।

पंचम अध्याय

द्वन्द्वों का सहभाव

भगवद्गीता का अध्ययन करते समय प्रत्येक का ध्यान इस एक बात की तरफ अवश्य जाता है कि श्रीकृष्ण की हर बात पर अर्जुन व्यग्र हो उठता है, घबरा जाता है। अर्जुन का मन सजग है, सावधान है, सक्रिय है और इसलिए उसमें शंकाएँ और प्रश्न भरपूर हैं। हर बात पर वह कृष्ण से अपेक्षा करता है कि "आप निश्चित बतायें कि क्या करना है ? पंचम अध्याय के प्रथम श्लोक में भी ऐसी ही माँग है। अर्जुन पूछता है–

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।

–'हे कृष्ण' आप कर्म-सन्यास की प्रशंसा करते हैं; और फिर अनासक्ति पूर्वक कर्माचरण की भी स्तुति करते हैं। इन दोनों में उत्तम कौन सा है, यह आप निश्चित बतायें।'

अर्जुन के सामने शाश्वत प्रश्न यह है कि किसे चुना जाय। कृष्ण तो श्रेष्ठ गुरु थे। इसीलिए वे कभी निर्णयात्मक भाषा में नहीं कहते कि यही करो। वह अर्जुन पर अपना प्रामाण्य कभी लादते नहीं। वह तो अपने प्रिय मित्र और आप्त शिष्य अर्जुन के सामने विकल्प पर विकल्प प्रस्तुत करते जाते हैं और प्रत्येक के साधक-बाधक पहलुओं का आमूल विवेचन करके रख देते हैं : उन में अपार धैर्य है, इसीलिए अर्जुन जो भी प्रश्न उठाता है, उसकी गहराई तक जाने को वे तैयार रहते हैं। चाहते तो श्री कृष्ण अर्जुन के सामने अन्तिम सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकते थे और सुनिश्चित आदेश दे सकते थे कि यही करो। अपने मित्र और गुरु श्री कृष्ण का अक्षरशः पालन अर्जुन अवश्य करता। गीता का महान् वैशिष्ट्य यही है कि उसे वैचारिक अन्तिम सिद्धान्त से कोई मतलब नहीं है, बल्कि विचार-प्रक्रिया का, सोचने की पद्धति का उसकी दृष्टि में विशेष महत्व है।

विपरीत कर्म-हीनता की अवस्था में आना। कर्म-हीनता और अकर्मावस्था में मौलिक अन्तर है। कर्म-हीनता विकर्म की ही कोटि का कर्म है, प्रतिक्रिया की ही श्रेणी में आती है, क्योंकि वह एक निषेधात्मक प्रतिक्रिया ही है। प्रतिक्रिया के अधीन होना और यत्न पूर्वक प्रतिक्रिया से विरत होना दोनों एक ही वस्तु के दो सिरे हैं, द्वन्द्व हैं, परस्पर संलग्न हैं, अन्योन्याश्रित हैं, अलग नहीं किये जा सकते, क्योंकि एक में दूसरा है ही। उपर्युक्त श्लोक में श्री कृष्ण कहते हैं कि कर्म-संन्यास और कर्म-योग दोनों एक ही हैं। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहाँ कर्म संन्यास है, वहाँ कर्मयोग भी है। गीता ठीक ही कहती है :

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति

—'सांख्य के द्वारा जो स्थान पाया जाता है, योग से भी वही स्थान पाया जाता है, जो देखता है कि सांख्य और योग एक हैं, वही देखता है।'

कर्मयोग और ज्ञानयोग के बीच कोई विरोध नहीं है, बल्कि एक के बिना दूसरा अधूरा है। इन दोनों का सम्बन्ध अनुभूति और अभिव्यक्ति जैसा है। वस्तुओं का सम्यक् ज्ञान, जिस में मन का कोई रंग न हो, वही ज्ञान योग है। मन का हर प्रकार का प्रक्षेप (प्रोजक्शन) समाप्त होने पर ही सम्यक् ज्ञान का उदय होता है। सभी प्रतिक्रियाएँ मन के प्रक्षेपों में जन्म लेती हैं। इस प्रकार ज्ञानयोग की प्रमुख दृष्टि प्रतिक्रियाओं के मूल केन्द्रों के उन्मूलन की ओर रहती है, जिससे अकर्मावस्था प्राप्त हो सके। यही वास्तविक संन्यास है, जिस में सभी विकर्म (प्रतिक्रियाएँ) अवश्य ही निर्मूल हो जाते हैं, परन्तु कर्म नष्ट नहीं होते। यह ऐसी अवस्था है, जिसमें कर्म का कर्ता लुप्त हो गया है, और यही शुद्ध कर्माचरण की उपयुक्त भूमिका है। वास्तविक संन्यास की स्थिति कालगत नहीं होती, बल्कि वह कालातीत क्षण में रहने वाली है। उसका अनुभव किया जा सकता है, वर्णन नहीं किया जा सकता। वर्णनमात्र काल-देशसापेक्ष होता है, कालातीत और देशातीत वस्तु का वर्णन कैसे किया जा सकेगा? गीता कहती है :

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।

—'जो समस्त कर्मों 'को ब्रह्म में अधिष्ठित कर, संग-रहित हो कर कर्म करता है, वह पापों से जलकमलवत् अस्पृष्ट रहता है।'

कर्म करना और समस्त कर्मों को ब्रह्म में अधिष्ठित करना यही अनासक्ति का मर्म है। कर्म निश्चित ही काल के अधीन है, काल के दायरे में रहनेवाला है, परन्तु ब्रह्म कालातीत है, कालमर्यादा से परे है। तो, काल में कालातीतता का निर्माण करना यही सम्यक् कर्म का अर्थात् कर्म योग का रहस्य है। इस प्रकार का कर्म करने वाला पद्म-पत्र के समान होता है, जो जल में रहते हुए भी जल से सर्वथा अलिप्त रहता है। ऐसे व्यक्ति का कर्म पूर्ण होता है, उसमें किसी प्रकार की न्यूनता शेष नहीं रहती। इमर्सन ने पूर्ण कर्म के इस विचार का वर्णन निम्न शब्दों में बड़े सुन्दर ढंग से किया है :

> "हे प्रशान्त सितारों, अपनी भावना मुझे सिखाओ
> जो चिर गगन में प्रतिनिशि चढ़ आते हो,
> नभपटल पर न तुम्हारी छाया शेष है, न चिह्न
> न काल की रेखा अंकित हैं, न मरण का भय।"

निष्काम कर्म की चर्चा में आदि से अन्त तक भगवद्गीता ने कर्मफल के त्याग पर बराबर बल दिया है। यह कर्मफल ही है जो मनुष्य को कर्म के बीच में भरमा देता है। वह ऐसे कर्म को असम्भव बना देता है जो कर्म अपने पीछे 'छाया न छोड़े, न चिह्न रहने दे, और न ही काल की रेखा अंकित होने दे।' इस कर्मफल-नामक तत्त्व का प्रवेश कराता है मन। कहने की आवश्यकता नहीं है कि मन को कर्माचरण की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी उस कर्म के परिणाम स्वरूप प्राप्त हो सकने वाले फल की होती है। मन आप ही उस फल की कल्पना कर लेता है और यह सोचता रहता है कि इससे अपनी आशा की पूर्ति हो सकेगी। इस लिए गीता 'मानसिक कर्म-संन्यास' की बात कहती है। वास्तविक संन्यास तो मन का ही है। मन जब शांत और स्थिर रहता है, तब वह जो भी कर्म करेगा वह पूर्ण होगा, उसका कोई चिह्न पीछे नहीं छूटेगा। मन की यह शांति अनासक्त कर्माचरण की वास्तविक स्थिति है। गीता कहती है :

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।

—'जिनका मन साम्यावस्था को प्राप्त हुआ है, उन्होंने इस लोक में ही सृष्टि को जीत लिया है । ब्रह्म दोषमुक्त है, समत्वयुक्त है, इसलिए वे ब्रह्म में स्थित होते हैं ।'

मनुष्य के मन को दूषित कौन करता है ? विकार । विविध विकारों के कारण मन दूषित होता है । इस लिए जो मन जीवन की सहज प्राप्त परिस्थितियों को—वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो—यथावत् स्वीकार तो अवश्य करता है, परन्तु तत्सम्बन्धी विकृतियों के अधीन नहीं होता, वही समत्वयुक्त मन है । गीता उस मन को ब्रह्म में स्थित कहती है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष है, सर्वथा समत्व-सम्पन्न है, इस लिए उस में कोई विकार पैदा नहीं हो सकता है । इस प्रकार कर्मों को ब्रह्म मे अधिष्ठित करने का अर्थ है पूर्ण समत्व की स्थिति में रहते हुए कर्मों को करना; फलप्राप्ति की कल्पना से, मन को अल्प मात्र भी विकारवश न होने देना । चित्त में विकार पैदा करनेवाली तो कर्मफल-सम्बन्धी सुख-दुःख की कल्पना है । सामान्यतः मनुष्य इसी आशा से कर्म करता है कि उससे सुख मिलेगा । परन्तु जो सुख मिलता है वह क्षयिष्णु होता है, कालान्तर में नष्ट हो जानेवाला है । वह सुख काल में जन्म लेता है, इसलिए काल में ही मर जाता है । परन्तु कर्म जब ब्रह्म में अधिष्ठित होते हैं तब जो सुख निष्पन्न होता है वह इस से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है । गीता उस सुख को 'अक्षय' कहती है । ब्रह्म कालगत क्षयशीलता से परे है । उस में भविष्य की कल्पना जैसी कोई बात ही नहीं है जिस में मनुष्य सुखस्वप्न का आनन्द ले सके । ब्रह्म में आदि और अन्त समान हैं; जो आदि है, वही अन्त है । इस लिए वहाँ कर्माचरण से प्राप्त फल भोगने का प्रश्न ही नहीं होता है । यदि कर्म का आदि सुखहीन है, तो अन्त में भी सुख नहीं होगा । अन्त तो आदि का एक विस्तार है, परिष्कार है । यदि कर्म के आचरण में सुख नहीं है, तो उस कर्म से निष्पन्न फल-भोग में भी सुख नहीं हो सकता । जैसे गीता कहती है, जो सुख कालगति के अधीन है, वह क्षयिष्णु सुख है । श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।

—'जो भोग स्पर्शजन्य हैं, वे निश्चित ही दुःख पैदा करनेवाले हैं। वे सादि और सान्त हैं। हे कौन्तेय, ज्ञानी उनमें रममाण नहीं होते हैं।'

स्पर्शजन्य भोग वे हैं जो चित्त के विकारों से उत्पन्न होते हैं। चूंकि स्पर्श क्षणिक हैं, इस लिए स्पर्श पर अवलम्बित भोग भी क्षणिक हैं। स्पर्शजन्य भोग तृष्णा पैदा करते हैं, क्योंकि जिन विषयों के स्पर्श से वे पैदा होते हैं, वे विषय निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं—वे उस जीवन के अंग हैं जो नित्य प्रवाहशील हैं। भगवान् बुद्ध ने कहा कि 'समस्त अंशरूप द्रव्य अनित्य हैं।' तो जितने भी व्यक्त पदार्थ हैं, वे अंशों से ही बने होते हैं, ऐसे अंशों से निर्मित होते हैं जो नष्ट होनेवाले हैं, मिट जानेवाले हैं। इसलिए व्यक्त पदार्थों के स्पर्श से पैदा होनेवाले समस्त भोग दुःखजनक होते हैं। परन्तु अव्यक्त के योग से होनेवाला भोग नित्य है, अक्षय है। जब मनुष्य क्षयिष्णु पदार्थ में अक्षय तत्व का स्पर्श करता है, सान्त वस्तु में अनन्त तत्व को पहचानता है, काल में रहते हुए कालातीत, शाश्वत तत्व में प्रतिष्ठित होता है, तब वह अक्षय सुख को जानता है। गीता कहती है:

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्
काम-क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।

—'जो मनुष्य, शरीर त्याग से पहले ही, इसी लोक में काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन कर सकता है, वही युक्त-पुरुष है, वही सुखी है।'

सहन करने की शक्ति का अर्थ है मन का द्वन्द्व-परिणामों के बीच अविचल रहना, उनसे अप्रभावित होते हुए स्थिर रहना। सुख-दुःख, काम-क्रोध, राग-द्वेष, अनुराग-विराग—ये सब मन के द्वन्द्व हैं। जब मनुष्य इन द्वन्द्वों से अविचलित रहेगा, तभी वह समत्व युक्त होगा, और इसलिए परम सुखी होगा। ऐसा होने पर मनुष्य यहीं, इसी क्षण, इसी धरती पर अनिर्वचनीय सुख प्राप्त कर सकेगा। उसका वह सुख किसी बाह्य वस्तु पर अवलम्बित नहीं होगा। जो सुख परावलम्बसापेक्ष है, वह उपादेय नहीं है, प्राप्य नहीं है। वह तृष्णा जगा कर चला जानेवाला है। परन्तु जो सुख अन्दर से, आत्मा से उत्पन्न होता है, वह कालगति में अदूषित होता है, इसलिए निर्दोष होता है। जब सदोष तत्व दोषमुक्त होगा, मन सावयव पदार्थों के स्पर्श से होनेवाले समस्त कालुष्य से मुक्त होगा, तभी मनुष्य को कालातीत अक्षय सुख की प्राप्ति होगी।

परन्तु सदोष वस्तुओं को निर्दोष कैसे किया जाय ? मानव का वास्तविक और मूलभूत स्वभाव निर्दोषता ही है, उसका कल्पित स्वभाव सदोष होता है, क्योंकि वह कल्पित स्वभाव बाह्य परिस्थिति से बने विकारों से घड़ा जाता है। इसलिए जब यह कल्पित स्वभाव हट जाता है, तब सदोष निर्दोष हो जाता है, मानव का मूल स्वभाव उभर आता है। गीता कहती है :

अभितो, ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते, विदितात्मनाम्।

—'जो अपने को जानते हैं उनके निकट ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्राह्मी शान्ति रहती है।'

वास्तव में आत्मविद् पुरुष को ही शान्ति प्राप्त होती है जो कि समस्त ज्ञान का आधार है। आत्मविद् पुरुष ही है जो आसक्ति-रहित कर्म आचरण कर सकता है। आत्मविद् होने का अर्थ ही है मुक्त होना, क्योंकि कृत्रिम और कल्पित स्वभाव-बद्धता से मुक्त होने से भिन्न कोई मुक्ति नहीं है। यह मुक्ति तभी सम्भव है जब गीता के अनुसार मनुष्य इच्छा, भय और क्रोधों से रहित होता है। हमने देखा कि काम और क्रोध अन्योन्याश्रित द्वन्द्व हैं; फिर यह तीसरा —भय कहाँ से आया ? भय तो काम और क्रोध के पीछे निहित हेतु में संलग्न होता है। उस हेतु में यह भय बना रहता है कि काम, क्रोध कहीं निरर्थक न हो जायँ। सहेतुक त्याग त्याग, ही नहीं है। काम और क्रोध के पीछे भय प्रायः रहता ही है—अभिलषित वस्तु या लक्ष्य के सम्बन्ध में कुछ खो जाने का भय, तो कुछ न पाने का भय। मनुष्य जिस वस्तु की कामना करता है, वह यदि हाथ से निकल जाती है तो उसमें प्रतिरोध की वृत्ति जगती है और यही क्रोध है। इसी प्रकार वांछित वस्तु के प्राप्त न होने पर उसकी तृष्णा बढ़ती है और यही काम है। इस प्रकार त्यागमात्र के पीछे भय अवश्य रहता है, त्याग भय-मूलक ही होता है, भले वह कामना का त्याग हो, या क्रोध का। इस भय के निर्मूल होने पर ही मनुष्य समत्वयुक्त होता है, प्रज्ञाप्रतिष्ठित होता है और इसीलिए शांति और सुख को प्राप्त होता है।

पंचम अध्याय की समाप्ति इस महत्वपूर्ण श्लोक से होती है :

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

—'मुझे यज्ञ और तप का भोक्ता, समस्त लोकों का महान् स्वामी, तथा भूत मात्र का मित्र जानकर वह पुरुष शांति प्राप्त करता है।'

जैसा हमने पहले देखा है, भगवद्गीता का 'मुझे' शब्द का तात्पर्य अजन्मा, अव्यक्त से है। अव्यक्त ही समस्त द्वन्द्वों का धारक है। वस्तुतः जिस प्रकार एक-एक द्वन्द्व व्यक्त में रहता है, उसी प्रकार वे सब अव्यक्त में भी हैं। यहाँ 'मुझे' का वर्णन यज्ञों के भोक्ता के रूप में और तप के भोक्ता के रूप में किया है। यज्ञभोक्ता का अर्थ है आहुति मात्र का आदाता, द्रव्यमात्र का ग्रहीता; और तपोभोक्ता का अर्थ है त्यागकर्ता। अव्यक्त कर्ता भी है, द्रष्टा भी है; मायी और साक्षी दोनों है। उपर्युक्त श्लोक में कहे अनुसार यह 'मुझे' समस्त लोकों का स्वामी भी है और साथ ही भूतमात्र का मित्र भी है। यहाँ द्वन्द्वों का सहभाव स्पष्ट है, न्याय और करुणा का सह-अस्तित्व है—स्वामी न्याय का प्रतीक है, तो मित्र करुणा का द्योतक है।

मनुष्य को अव्यक्त, अजन्मा, अनन्त, शाश्वत तत्त्व के दर्शन कैसे होंगे? मनुष्य द्वन्द्वों को एक साथ अनुभव कैसे कर सकेगा? उपनिषदों में एक जगह याज्ञवल्क्य ऋषि इस विचार की चर्चा करते हुए बड़ा महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि 'हे राजन्, जब सूर्य और चन्द्रमा अस्त हो जाते हैं, अग्नि लुप्त हो जाता है, सांसारिक आलोकमात्र निष्फल हो जाता है, और सारा संसार अन्धकार से व्याप्त हो जाता है, तभी आत्मज्योति प्रज्वलित होती है, जो सत्य है, जो अस्तमित नहीं होती और मनुष्य का परम आलोक है।'

उसका प्रकाश अन्धकार में भी चमकता है। कालगत अन्धकार में भी अमृततत्त्व की ज्योति का दर्शन—यही गीता और उपनिषदों का, सदियों से चला आया उपदेशसार है, जो कि अक्षयसुख प्राप्ति का मार्ग है। बाह्य प्रकाशों के अस्तमित होने पर ही आत्मज्योति प्रकाशित होती है। बाह्य प्रकाशों का निषेध करने पर ही मनुष्य अनन्त तत्त्व की शाश्वत ज्योति का साक्षात्कार कर सकता है। षष्ठ अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को यही निषेधमार्ग समझानेवाले हैं, क्योंकि व्यक्त मात्र का पूर्ण निषेध करने पर ही अव्यक्त के अनिर्वचनीय सौन्दर्य अपनी समस्त महिमाओं से युक्त हो कर मनुष्य को गोचर होता है।

षष्ठ अध्याय

मध्यममार्ग

विश्व के धार्मिक तथा आध्यात्मिक वाङ्मय में प्रायः दो विचार-धाराएं देखने में आती हैं जिन्हें सामान्यतः हम गुह्य विद्या और रहस्य विद्या कह सकते हैं। जिस प्रकार रहस्य विद्या अगोचर तत्त्वों से सम्बंधित है, उसी प्रकार गुह्य विद्या भी अदृश्य तत्त्वों का शोधन करनेवाली है। परन्तु गुह्य विद्या का विषय चेतना का प्रसार (एक्स्टेन्शन) है, रहस्य विद्या का मुख्य लक्ष्य चेतना का विस्तार (एक्सपेन्शन) है। गुह्य विद्या में भौतिक तथा अतिभौतिक (स्पष्ट फिज़िकल) क्षेत्र की नित्यता की संभावनाओं की खोज की जाती है, तो रहस्य विद्या में कालातीत तत्त्व से तादात्म्य साधते हुए अनित्यता की, भंगुरता की गहराइयों के अनुसंधान की दृष्टि प्रमुख है। कालातीत से तादात्म्य साधने के लिए रहस्य विद्या कालप्रक्रिया से भागती नहीं, बल्कि काल और कालातीत के मध्यगत, दोनों को पृथक् करनेवाले क्षणों के प्रति जागरूक रहती है। गुह्य विद्या की प्रक्रिया विचारशक्ति को समाप्त कर देने की होती है, और रहस्य विद्या में विचार-प्रक्रिया से परे होने का प्रयत्न होता है। भगवद्गीता में प्रतिपादित सांख्य और योग इन्हीं दोनों धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। सांख्य ज्ञानमार्ग पर चलता है जहाँ विचार-प्रक्रिया की पराकाष्ठा का बोध चलता है, और योग कर्ममार्ग पर चलता है जो न तो प्रतिक्रिया पर निर्भर है, न ही केवल क्रिया पर। योग का कर्म तो अकर्मावस्था से निष्पन्न होता है जो पूर्ण निःसंकल्पावस्था है। षष्ठ अध्याय के प्रारंभ में इसी नकारात्मक अवस्था का संकेत है :

> "यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
> न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन"

—'हे पाण्डव, जिसे संन्यास कहते हैं, उसे ही योग समझो। संकल्पत्याग किये बिना कोई योगी नहीं बन सकता।'

इस श्लोक के अनुसार, जो योगी है अर्थात् जो आत्मविद्यासंपन्न है, उसे संकल्पमात्र से मुक्त होना होगा, यानी सभी प्रकार के भावात्मक (पाज़िटिव) विचारों से, विधायक (फार्मेटिव) इच्छाओं से मुक्त होना होगा। यह भावात्मक विचार ही है जो जीवन की समस्याओं और परिणामों की कल्पना करता है, उनकी अपने ढंग से व्याख्या करता है और फिर उसी व्याख्या के अनुसार भविष्य की योजना बनाता है। जीवन की समस्याओं के समाधान की पूर्वसिद्धता मनुष्य मन ही मन किया करता है, और भावात्मक विचार उसी पूर्वसिद्धता का एक प्रयत्न है। मनुष्य का मन यह कल्पना नहीं कर सकता कि किसी भी समस्या का प्रतिकार पूर्वसिद्धता के बिना भी किया जा सकता है। लेकिन सोचने की बात यह है कि जो जीवन सतत गतिशील है; सदा बदलता रहता है और जिसकी समस्याएँ भी नित्य नूतन रहनेवाली हैं, उनके प्रतिकार के लिए पूर्वसिद्धता का क्या अर्थ है? क्योंकि भावात्मक विचार का स्वरूप यही तो है कि भावी समस्याओं का तथा उनके समाधान का अपना एक स्वरूप कल्पित कर लेता है, एक ढांचा गढ़ लेता है और फिर उसके समर्थन में वैचारिक किलेबन्दी आरम्भ कर देता है। ये भावात्मक विचार या विधायक संकल्प सर्वथा स्थिर होते हैं, जड़ होते हैं। इधर भावात्मक विचार और संकल्प सुरक्षा के किले बांधने में लगे रहते हैं, उतने में जीवन कहीं का कहीं पहुँच गया होता है। जीवन की समस्याएँ क्षण-क्षण बदलती रहनेवाली हैं, नित्य नवीन हैं। भावात्मक विचारों को लेकर चलनेवाला मनुष्य आज की समस्या का समाधान कल के समाधान से करना चाहता है। यदि ऐसे सारे प्रयास विफल होते हैं, तो उसमें आश्चर्य क्या है? योगी वह है जो समस्त भावात्मक विचारों को छोड़ चुका है और पूर्ण अभावात्मक स्थिति में, शून्य की स्थिति में पहुँच गया है। यह शून्यावस्था ही वास्तव में अकर्म का आधार है। शून्य मन निष्क्रिय नहीं, बल्कि असाधारण संवेदनशील होता है। अकर्म को निष्क्रियता समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। अकर्म में क्रिया नहीं होती, ऐसी बात नहीं है। यह क्रियाओं से ही निष्पन्न होता है और उसमें क्रिया क्रिया न रहकर कर्म का रूप ले लेती है। यही विचार गीता के निम्न श्लोक में स्पष्ट किया गया है।

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।"

—'जो मुनि योग-मार्ग में बढ़ने की इच्छा रखता है उसके लिए क्रिया साधन है, और जब वह योग में आरूढ़ हो जाता है तब उसका साधन शमशान्ति-बताया गया है। योगमार्ग में बढ़नेवाला वह है जो अकर्म की दिशा मे चलता है। गीता का कहना है कि वह आरोहण क्रियाओं के बीच ही संभव है, उनसे अलग रह कर नहीं। क्रियाओं का त्याग तो निष्क्रियता की ओर ले जाता है। जो मनुष्य कर्म को ही अपना क्षेत्र बनाता है और उसमें स्वयं अपना साक्षी बना रहता है वही निश्चित रुप से अकर्मावस्था को प्राप्त होता है। गीता कहती है कि अकर्मी का, जो कि योगारूढ़ हो चुका है, क्षेत्र शान्ति है। और कहना न होगा कि उस शान्ति में ही सम्यक् कर्म अर्थात् कर्मयोग सधता है। गीता ने योगारुढ का यह जो लक्षण बताया है, वह सर्वथा निर्दोष और समीचीन है, क्योंकि वह पुरुष समस्त भावात्मक संकल्पों का त्याग कर चुका होता है, उसमें कामनामात्र का अभाव होता है। इस प्रकार मनोगति का संपूर्ण अभाव ही योगारुढ़ अवस्था है।

गीता का यह एक अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार है कि मनुष्य अपना उद्धारक स्वयं है। उसका उद्धार किसी बाह्य वस्तु पर, अपने से भिन्न किसी दूसरे पर अवलंबित नहीं है। गीता कहती है—"उद्धरेदात्मनात्मानं"—आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करना चाहिए। यही आत्म-संशुद्धि (सेल्फट्रेन्सेण्डेन्स) का सिद्धान्त है। आत्म का अर्थ अहंता, स्व है जो कि मनकी ही ऊपज है। इसलिए आत्मसंशुद्धि का अर्थ है चित्तसंशुद्धि। गीता का कहना है कि चित्त की शुद्धि चित्त के द्वारा ही संभव है।

आत्म-संशुद्ध पुरुष चिरशान्त और समाहित होता है। वही कूटस्थ अर्थात् अचल, ध्रुव कहलाता है। सृष्टि की ओर देखने की उसकी दृष्टि व्यक्तिगत भावनाओं से असृष्ट रहती है। इसलिए वह वस्तु को उसके मूलरुप में देख सकता है, वस्तुमात्र के प्रति समत्वयुक्त हो सकता है, समदृष्टि हो सकता है। हम सामान्यतः जो भी वस्तु देखते हैं, उसपर अपने मन के श्रेष्ठ-कनिष्ठ भावों को आरोपित करके देखते हैं। व्यक्त सृष्टि तो बहुरुप है, अनेक विविधताओं से भरी है। फिर भी हम उस वैविध्य और भिन्नता तक ही नहीं रुक जाते हैं, उनके साथ अपने मनगढंत श्रेष्ठत्व, कनिष्ठत्व आदि भेदों को और जोड़ते हैं, अनन्त श्रेणियों मे विभाजित करते जाते हैं। श्रेणियों मे विभाजित करने का

अर्थ ही है मनोगत भावनाओं का आरोपण करना। गीता कहती है : ज्ञानी के लिए ढेला, पत्थर और स्वर्ण सब समान हैं—समलोष्टाश्मकांचनः। इनको समान देखने का अर्थ यह नहीं कि उनमें भेद ही नहीं देखेगा।

पदार्थों का भेद तो देखें, पर उच्च नीच, शुभ-अशुभ आदि विशेषताओं से मर्यादित न करें यही ज्ञान का लक्षण है। प्रत्येक वस्तु अपने स्थान में विशेष होती है, वैशिष्ट्यसंपन्न होती है। इसलिए किसी एक वस्तु को अपनी तरफ से उच्च या नीच मानना अथवा दूसरी वस्तु की तुलना मे देखना उस वस्तु के सम्यक् ज्ञान से वंचित होना है वस्तुओं को श्रेणियों मे बांटने से समत्व-बुद्धि रह नहीं जाती। प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना सहज-सिद्ध स्वभाव होता है जो दूसरी वस्तु की तुलना में प्रकट नही होता, बल्कि उसे उसके सही स्थान में रहने दे कर ही उस स्वभाव को समझा जा सकता है। तुलना करने से वस्तु का सहजसिद्ध वैशिष्ट्य और मूल्य समाप्त हो जाता है। गीता कहती है कि ज्ञानी इस तुलना-प्रक्रिया के वश नहीं होता, किसी वस्तु पर अपना गुण नहीं लादता, अपनी भावना आरोपित करके नहीं देखता। इसीलिए वस्तु को उसके सही रूप में, उसकी अपनी विशेषता के साथ देख सकता है, उसकी अपनी महत्ता को पहचान सकता है। मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण का भेद जानते हुए भी उनकी परस्पर तुलना नहीं करेगा, उनके अन्तस्तत्व को ठीक से देख सकेगा।

बाह्य संसार की किसी भी वस्तु के कारण योगारूढ़ पुरुष के चित्त में कोई विकार पैदा नहीं हो सकता। वह समस्त परिवर्तनशील वस्तुओं के बीच अपरिवर्तनीय है, अचल है, कूटस्थ है। और इसीलिए किसी भी वस्तु, व्यक्ति या विचार के साथ उसका संबंध पूर्णतायुक्त होता है, समग्रतासंपन्न होता है। इस पूर्णदर्शन में वस्तु के अन्तर्गत महिमा और मूल्य अनावृत हो जाता है। वस्तु के आन्तरिक गुणधर्म को, उसकी परिसर-परिस्थिति के सहज प्रभाव को जो देखता है वही वास्तविक संबंधों को स्पष्ट कर सकता है, संबंधो के प्रति सही दृष्टि प्रदान कर सकता है। कहना न होगा कि सम्यक् अवलोकन में ही पूर्ण चित्तसमता और पूर्ण साम्यबुद्धि निहित है।

भगवद्गीता कह रही है कि यदि जीवन की प्रत्येक क्रिया में पूर्ण साम्यबुद्धि का, समदृष्टि का दर्शन हो सकता है तो वह अध्यात्मनिष्ठ पुरुष में ही हो सकता है। सच तो यह है कि जिस चित में साम्य नहीं है, वह शुद्ध और निर्दोष कभी

हो नहीं सकता। आसक्तिमूलक चित्तवृत्ति से सभी कुछ सदोष हो जाता है, समदृष्टि नष्ट हो जाती है, राग-द्वेष और प्रिय-अप्रिय की शृंखला हावी हो जाती है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।"

—'हे अर्जुन, जो अत्यधिक खाता है या अत्यधिक निग्रह करता है, जो अत्यधिक निद्राशील है या सदा जाग्रत रहता है, उसके लिए योग नहीं है।'

आध्यात्मिक अनुभूति के उत्तुंग शिखरों पर आरोहण करने की इच्छा रखनेवाले को सभी प्रकार की 'अति' से मुक्त रहना होगा और मध्यम मार्ग का अवलंबन करना होगा। परन्तु प्रश्न यह है कि यह कैसे जानें कि अति क्या है और क्या नहीं है। अत्यधिक और अत्यल्प की विभाजक रेखा क्या है? यह सही है कि ऐसा कोई मानदण्ड नहीं है जिससे हम यह निश्चित कर सकें कि यह अति है और यह नहीं है। इसलिए अति से बचने के लिए हमें एक ऐसी बिन्दु पर पहुँचना होगा जहाँ रहने पर हमारे हाथों कोई भूल न होगी, अर्थात् वह बिन्दु ऐसा होगा जिसकी अवस्थिति (पोजिशन) है, परन्तु विस्तार (मैग्निट्यूड) नहीं। मध्यम मार्ग ऐसी रेखा है जिसकी लंबाई है, चौड़ाई नहीं। उस रेखा की व्याख्या नहीं हो सकती, विवेचन नहीं हो सकता : क्योंकि उसकी व्याख्या करना उसे सीमा में बाँधना है और ज्यों ही वह सीमा में बँधती है, त्यों ही उसमें चौड़ाई आ जाती है। मध्यम मार्ग का वर्णन करना यानी प्रिय-अप्रिय रूप द्वन्द्व की मध्यस्थिति का वर्णन करना है। लेकिन ज्योंही द्वन्द्वों की मध्यस्थिति की बात आती है, त्योंही द्वन्द्व के दोनों बिन्दु अपना काम करने लग जाते हैं, विकृति और विद्रूपता निर्माण करने लगते हैं। इसी आत्यन्तिकतात्याग का सिद्धान्त विशद करते हुए गीता कहती है :

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।

—'जो पुरुष आहार-विहार में युक्त है, संतुलित है; जो कर्ममात्र में युक्त है, संयत है, जो निद्रा और जागृति में युक्त है, नियमित है, उस के लिए योग दुःखनाशक होता है।'

मध्यममार्ग के अवलम्ब से दुःखनाश यही आध्यात्मिक सत्यान्वेषी को गीता का निर्देश है। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि मध्यम मार्ग दो अतियों का समझौता नहीं है : कुछ भोग और कुछ त्याग का नाम मध्यम मार्ग नहीं है। अतियों का समन्वय नहीं, अतियों से परे होना मध्यम मार्ग है। इस की भावात्मक अवस्था 'पूर्ण साम्य' की अवस्था है, और अभावात्मक अवस्था 'आत्यन्तिकता का त्याग' है। गीता ने इस अवस्था की तुलना दीपनिर्वाण से, निर्वातस्थान के दीपक से की है। कहती है—वह अवस्था ऐसी अडोल है जैसे वायु विहीन प्रदेश में जलने वाले दीपक की निष्कम्प ज्योति है। दीपज्योति इतनी सूक्ष्म है कि हवा का अत्यन्त साधारण झोंका भी उसे कम्पित कर देता है परन्तु वायु का संचार सर्वथा जब थम जाता है तब ज्योति अवश्य अचल और स्थिर हो जाती है। योगी की स्थिरता, उसका चित्तस्थैर्य ऐसा ही निष्कम्प होता है। उस में ऐसी परिपूर्ण स्थिरता निवास करती है जिसमें भव्य विश्रांति का सौन्दर्य और महिमा प्रकट होती है। ऐसी स्थिरता में न क्षोभ होगा, न जड़ता, कोई अति न होगी। ऐसी समता से सम्पन्न होने वाली हर बात सुन्दर होती है। अनासक्त पुरुष सदा पूर्ण साम्ययुक्त होता है, उस में क्षोभ या जड़ता-का लेशमात्र अस्तित्व नहीं रहता। इस साम्यावस्था में वैयक्तिकता का अभाव (इम्पर्सनालिटी) होता है परन्तु यह वैयक्तिकता का अभाव कर्म के प्रति वास्तविक निष्ठा (इण्टिमेसी) को जन्म देने वाला होता है, घनिष्ठता का निर्माण करने वाला होता है। अकर्तृत्व और निष्ठा का अद्भुत समन्वय योगी का विलक्षण लक्षण है। यह उस निर्वात ज्योति के समान है जो आलोक प्रसारित करते हुए भी अविचल है, अविकार है।

साम्ययुक्त पुरुष ही जानता है कि परम आनन्द क्या है, यह आनन्द मनोमूलक नहीं होता, क्योंकि मन का आनन्द तो उत्तेजना और कृत्रिम सुख में है। परम आनन्द का जन्म आत्मा की असीम गहराइयों में से होता है और इसलिए वह गतिशील मौन से युक्त होता है। गीता कहती है कि इस परम आनन्द का अनुभव केवल 'बुद्धि' से ही संभव है। मन जिस आनन्द को जानता है वह इंद्रिय-जन्य है, परन्तु यह बुद्धिगम्य परम आनन्द इंद्रियजन्य नहीं होता अतीन्द्रिय होता है यह अजन्मा, अव्यक्त के योग से ही सम्भव है। मनोजन्य सुख के साथ सदा तृष्णा जुड़ी रहती है कि कुछ और चाहिए, उससे भी अधिक चाहिए। इस प्रकार मन का एक सुख उससे अधिक सुख पाने का

साधन बनाता है। परन्तु गीता जिस परम आनन्द की बात कहती है उसमें 'और अधिक' की बात नहीं होती। यह आनन्द जिस को प्राप्त होगा वह महान् दुख से भी विचलित नहीं होता। यह आनन्दानुभव ही अन्तिम साध्य है, वही उसका अन्त है। इस अनुभूति के और कोई प्राप्य शेष नहीं होता। लेकिन मन के आनन्द मे यह पूर्णता क्यों नही आती ?

जैसे हमने पहले देखा, मन सर्वदा द्वंद्वों के बीच दोलायमान रहताहै, द्वैत के दो बिन्दुओं के बीच घूमता रहता है। मन एक अति से दूसरी अति की ओर दौड़ता है। उसे एक न एक अति ही मालूम है, साम्य वह जानता ही नहीं। सुख का वास्तविक स्वरुप उसे नहीं मालूम है, उसका सुख दुःख प्रतियोगी के सिवाय कुछ नहीं है। इसलिए मनके सुख के साथ सदा दुःख की छाया बनी रहती है। मनुष्य निरन्तर उस छाया को दूर करने के निरर्थक प्रयास में निरत रहता है, लेकिन किसी भी वस्तु की छाया तब तक मिट नहीं जाती जब तक वह मूल वस्तु ठोस बनी रहती है, अ-पारदर्शी रहती है। मनुष्य को चाहिए कि वह छाया से लड़ना छोड़कर मूल वस्तु की ओर ध्यान दे। दुःख से संघर्ष करने के बजाय सुख का ही परीक्षण करे। क्योंकि सुख को ही तो छाया है जिसे मनुष्य ने दुःख का नाम दिया है। यह मनका कल्मष है, और इसी कल्मष के कारण सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। यहाँ गीता योग की बड़ी विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत कर रही है। कहती है :

"तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

- 'दुःख-संयोग-विहीनता का ही नाम योग है।' सच्चा योगी वह है जो दुःखसंयोग का निमित्त बननेवाली वस्तुओं से अलग होता है। तो, वह वस्तु कौन है जो दुःखसंयोग निर्माण करती है? निश्चित ही वह है तुलना और प्रतिस्पर्धा से युक्त मन। तुलना आयी, कि स्पर्धा भी आयेगी ही। इसलिए मन ज्योंही तुलना करने लगता है, त्योंही दुःखसंयोग आता है। परन्तु यदि हम वस्तु को उसी रूप मे देखें जिस रूप में वह है, अर्थात् किसी से तुलना करने के फेर मे पड़कर उसे छिन्न-विच्छिन्न न करें, तो हम क्षण-क्षण आनन्द अनुभव करेंगे। तुलना और प्रतिस्पर्धा के ही कारण मन जड़ होता है, कुंद होता है : और वही मन दुःख और शोक का जनक है। दुःख-संयोग निर्माण करनेवाले तत्त्वों से हम पृथक् तभी हो सकेंगे जब हमारे मन का नवनिर्माण होता है, पुनर्नवीकरण होता

है। इस पुनर्निर्माण की प्रक्रिया से मन स्वच्छ, निर्मल होता है, पारदर्शी होता है और उसकी जड़ता, स्थूलता नष्ट हो जाती है। जड़ चित्त में उसका अपना ही अतीत भरा रहता है वह अपनी ही स्मृतियों का अड्डा बना होता है। उन्हीं पूर्व-स्मृतियों की सुदीर्घ छाया के कारण ही हमारा नित्यजीवन अंधकारमय हो जाता है, मलिन हो जाता है। योगी का जीवनपथ शुद्ध और निर्मल चित्त के द्वारा आलोकित हो उठता है, स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है। सांसारिक अंधकार के मध्य भी वह दिव्य आलोक देखता है; उसके मुँह से यह उद्गार निकलता है कि "हमारे अंधकार मे भी 'उसकी' आभा छिटक रही है।" कहा जाता है कि 'योगी जन रात्रि के अंधकार में सूर्योदय का स्तुतिगान करते हैं।' और "मानव की दुःखद भूलों में उसका आरोहण देखते हैं। जो चित्त विशुद्ध हुआ है, जिसकी जड़ता और कल्मष नष्ट हुआ है, और जो निर्मल और पारदर्शी हुआ है वही तेजस्वी और आलोकमय चित्त है। वस्तुतः मनकी जड़ता का निर्मलता में रूपान्तरण क्या है ? उस स्थिति का वर्णन गीता निम्न शब्दों में कर रही है :—

"संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।" अर्थात् 'उस स्थिति में संकल्पजन्य कामनामात्र का निःशेष त्याग होगा।'

संकल्पजन्य समस्त कामनाओं का निःशेष त्याग-गीता का मूल आदेश है। इसका अर्थ है स्वरूपतः मनका ही नाश। क्योंकि मन से संलग्न एक भी तत्व शेष रहा तो वह अपने पीछे अपनी छाया छोड़ेगा जो कि साधक के जीवनपथ को मलिन करेगी, उसका मार्ग अस्पष्ट हो जायेगा। गीता कहती है कि साधक को चाहिए कि 'वह अपने मनको आत्मा मे अधिष्ठित कर, कुछ भी न सोचे— "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।' यह निर्विचारदशा योग की अवस्था कही गयी है।

पूर्ण विचार-शून्यता की अवस्था कैसे प्राप्त होगी ?

गीता के षष्ठ अध्याय का नाम 'आत्मसंयमयोग' दिया गया है। स्पष्ट ही है कि आत्मसंयम का अर्थ मन का संयम है, क्योंकि आत्मा यानी स्व' अहंता मन की ही उपज है। मन अपनी नित्यता बनाये रखने के प्रयत्न में जिस तत्व *को जन्म देता है, उसी का नाम अहं है, आत्मा है। इसलिए मन का संयम* करने का अर्थ है' मन की नित्यता की समूची प्रक्रिया का पूर्ण संवरण करना।

मन अपनी विचार प्रक्रिया से आत्मा को, अहं को बल पहुंचाता है। इस लिए आत्म-संयम उस स्थिति का नाम है जिसमें मानसिक प्रक्षेपणमात्र (प्रोजक्शन) का, मन के समस्त भावप्रसारण का अभाव है। यह स्थिति कैसे प्राप्त होगी ? गीता कहती है :

यतो,यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।;;

—, अस्थिर और चंचल मन जहाँ जहाँ चलता है, वहाँ वहाँ से उस का नियमन करते हुए उसे आत्मवश बनाते रहना चाहिए।'

मन सर्वदा चंचल रहता है और इस लिए अस्थिर होता है। चंचल मन निश्चित ही विभक्त मन होता है, असंख्य कामनाओं से इधर उधर भटकने वाला होता है, गीता कहती है कि जिस क्षण मन भटकता है उसी क्षण उसे पीछे ले आना चाहिए। परन्तु कहाँ ले आना चाहिए ? गीता सुझा रही है कि उसे आत्मा के नियन्त्रण में ले आना चाहिए। परन्तु आत्मा तो अजन्मा और अव्यक्त है, वह अज्ञात और परतत्व है। तब मन को अज्ञात और पर के नियंत्रण में ले आने की बात का अर्थ क्या है ? वस्तुस्थिति यह है कि मन ज्यों ही ज्ञात से मुक्त हो जाता है, तत्काल वह अज्ञात के नियम में आ जाता है। इसी लिए गीता ने मनोनिग्रह का उपाय ज्ञात से मुक्ति प्राप्त करना बताया। आत्मवश मन वह है जिसने अपने को सर्वथा अज्ञात के हाथों समर्पित कर दिया है। ऐसे समर्पण में परिपूर्ण संयम है, क्योंकि मन का सारा संचार, सारा भ्रमण वहाँ समाप्त हो चुका है। अज्ञात अथवा अव्यक्त सभी प्रकार के भेदों से मुक्त है, वस्तुतः जो भी भेद है व्यक्त जगत् में ही है। यह भेद ही विक्षेपकारी है। और जो मन अज्ञात, अव्यक्त में समर्पित हो गया है, वह उसी क्षण भेदयुक्त संसार से अलग हो गया है। गीता कहती है

"सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।"

—'जो योगी एकत्व में अवस्थित है, मुझ सर्वभूत निवासी को भजता है वह किसी भी अवस्था में रहे, मुझ में ही निवास करता है।

जिसने अव्यक्त से तादात्म्य स्थापित कर लिया है वह 'अनेक में एक' को देख सकता है! उसे विविधता में एकता देखने की दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

विविधता और एकता के परस्पर संबंध की तुलना वर्तुल और बिन्दु के परस्पर सम्बन्ध से की जा सकती है। बिन्दु में अतीत वर्तमान और भविष्य के सारे वर्तुल समा जाते हैं: एक के बाद एक नहीं, एक साथ। और इसलिए जो व्यक्ति बिन्दु से तदात्म्य साध लेता है उस के लिए भविष्य उसी क्षण में है। मनुष्य का वास्तविक संरक्षण व्यक्त में नहीं है, अव्यक्त की शरण जाने में ही है। अज्ञात से ओत प्रोत मन सर्वथा समाश्वस्त है। गीता कहती है—

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।"

—'*जो मुझे सर्वत्र देखता है, सब को मुझ में देखता है, उस के लिए मैं नष्ट नहीं होता हूँ और मेरे लिए वह नष्ट नहीं होता।*'

जैसे हम पहले देख आये हैं, भगवद्गीता के 'मुझे' का तात्पर्य अजन्मा अव्यक्त से है। जो अव्यक्त मे व्यक्त को देखता है और व्यक्त में अव्यक्त को, वही वास्तव में आश्वस्त है। अंग्रेज कवि विलियम ब्लेक ने इसी विचार को निम्न पंक्तियों में बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है:

"सिकताकण में जग का दर्शन, वन्यसुमन में स्वर्ग
मुट्ठी में अनन्तको बाँधे पलभर में अपवर्ग।"

ऐसी दृष्टि से संपन्न मनुष्य जीवन की ओर समदृष्टि रखता है। उसके लिए सब समान हैं, यानी उसकी दृष्टि मे सबका महत्त्व समान है। जो प्रत्येक वस्तु का अन्तःसत्त्व (इण्ट्रिन्सिक सिग्निफिकेन्स) पहचानता है उसके लिए न कोई वस्तु श्रेष्ठ है, न कोई कनिष्ठ। वस्तुमात्र की महत्ता देखनेवाले के चित्त में सबके प्रति समान आदर होता है, पूर्ण सम्मान होता है। उसका चित्त तुलना आदि संकीर्ण भावनाओं से मुक्त होता है, क्योंकि अव्यक्त अतुलनीय है। तुलना-मोह से विमुक्त मन विक्षेपों के अधीन नहीं होता, इसलिए स्थिर साम्य की अवस्था में रहता है, पूर्ण समता अनुभव करता है।

श्रीकृष्ण के इन सब मूलगामी विवेचनों को सुनने के बाद अर्जुन एक बुनियादी प्रश्न प्रस्तुत करता है। पूछता है—

"योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।"
"चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।"

—'हे मधुसूदन, आपने साम्य के द्वारा जो योग बताया, उसके लिए मैं, चांचल्य के कारण, अपने में स्थिर आधार देख नहीं पा रहा हूँ। क्योंकि हे कृष्ण, यह मन बड़ा चंचल है, दुर्विनीत है, संक्षोभकारी है। और मुझे लगता है कि वायु के समान उसका निग्रह भी दुःसाध्य है।"

षष्ठ अध्याय का प्रतिपाद्य मुख्य विषय है "साम्ययोग।" साम्य तभी प्राप्त हो सकता है जब मन प्रत्येक वस्तु के अन्तस्सत्त्व को जान ले। परन्तु इसके लिए मन की पूर्ण स्थिरता अत्यावश्यक है। इसीलिए अर्जुन कहता है कि उसका मन ही चंचल है, अस्थिर है। वह कह रहा है कि वह मन संक्षोभकारी है क्योंकि उसमें महा भयंकर उथल-पुथल मचता रहता है। अर्जुन उसे बड़ा हठी कह रहा है क्योंकि उसमें भारी निष्क्रियता पड़ी है; वह बलवान् है क्योंकि वह अपने निर्णयों और अपने मतों पर अडिग डटा रहता है। ऐसा अशान्त मन शान्त कैसे हो? हम में से अधिकांश लोगों के मन में भी अर्जुन का यही प्रश्न उठता होगा। परन्तु श्रीकृष्ण समस्याओं की समस्या, महासमस्या का उत्तर क्या दे रहे हैं? कहते हैं—

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।"

—'हे महाबाहु, इसमें कोई शंका नहीं कि मन चंचल है, और उसका निग्रह दुःसाध्य है: परन्तु हे कौन्तेय, निरन्तर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसका निग्रह किया जा सकता है।"

श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनका निग्रह हो सकता है। परन्तु निगृहीत मन कैसा होता है? यह तो निश्चित है कि वह मन वस्तुविशेष से बंधा नहीं होगा। बंधा मन अशान्त होता ही है। संयत मन ही मुक्त मन है—चाहे जहाँ और हर कहीं संचार करने को स्वतंत्र है, फिर भी इस मुक्त विहार के बावजूद वह किसी की पकड़ में नहीं आता है।

हिन्दु पुराणों में अश्वमेध यज्ञ का वर्णन आता है। जो राजा सम्राट या चक्रवर्ती बनना चाहता था उसे यह यज्ञ करना पड़ता था। उसकी विधि यह थी कि उस राजा को अपना एक सुसज्जित अश्व स्वच्छन्द घूमने के लिए छोड़ना पड़ता था। यदि कोई सामन्त उस घोड़े को रोकता और उसे बांध देता तो वह राजा उससे युद्ध करता और उसे जीत कर अपने अधीन कर

लेता। और तभी वह सम्राट कहलता। यों, सम्राट पदवी लेने के लिए सब सामन्तों से लड़ना पड़ता था और जीतना पड़ता था। चक्रवर्ती सम्राट वही बन सकता था जिसका घोड़ा पूरे साम्राज्य में अबाध संचार कर सकता था, मुक्त विहार कर सकता था। इस अश्वमेध यज्ञ में मानों मनो-निग्रह का ही संकेत है। सम्राट् के अश्व के समान मनुष्य का मन अपने क्षेत्र में भगवद् गीता जिसे 'इन्द्रियग्राम' नाम देती है, उस समस्त इन्द्रियों के क्षेत्र में निर्बाध संचार करे, ऐसी निर्भय स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जो मन इस प्रकार अप्रतिहत गति से संचार करते हुए भी किसी वस्तु से बंधा नहीं जाय, किसी भी विचार के वश न हो, वही वास्तव में संयमित मन कहा जायेगा। जो मन न कहीं बधा हो, न कहीं अटका हो वही मुक्त मन है, वही निगृहीत मन है। इन्द्रियों के विषयों से भागने वाला मन कदापि संयमित मन नहीं है। निगृहीत मन यानी अमुक एक विषय से विमुख या परावृत्त मन नहीं है। जो किसी न किसी विषय से विमुख या परावृत्त होता है वह मन कहीं और अवश्य आसक्त होगा। तब प्रश्न यह है कि मन को यह स्थिति कैसे प्राप्त हो कि वह स्वेच्छ से सर्वत्र घूम तो ले, परन्तु किसी भी विषय के वश न हो?

श्री कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि अभ्यास और वैराग्य से मनोनिग्रह संभव है। लेकिन अभ्यास और वैराग्य में तो परस्पर विरोध है क्योंकि अभ्यास में प्रवृत्ति की आवश्यकता है और वैराग्य में निवृत्ति की। तो क्या ये दोनों परस्पर विरोधी प्रक्रियायें साथ-साथ चलेंगी या एक के बाद एक?
अभ्यास और वैराग्य यदि एक के बाद एक आने को हैं, तो आज तो सब यही कर रहे हैं। हर कोई जब तक हाथ पैर चलता है, तब तक किसी न किसी प्रवृत्ति में लगा रहता है और जब बुढ़ापा आता है; शरीर थक जाता है, कुछ भी करने की क्षमता रह नहीं जाती है, तब दैनिक काम काज से विरक्त होता है। यह सर्व-साधारण स्थिति है। लगभग सभी की स्थिति यह है कि हम चाहे कुछ करने योग्य रहें या सर्वथा अक्षम हो जाय, तब भी जीवन भर मन को अशान्ति की भंवर में फंसे ही होते हैं। लेकिन इसमें कोई शंका नहीं कि श्री कृष्ण मनोनिग्रह के साधन के रूप में अभ्यास-वैराग्य की जो बात कह रहे हैं उन में दोनों के बीच कालावधि की कोई गुंजाइश नहीं है। वे एक के बाद एक नहीं, बल्कि एक साथ साधने के हैं, युग्म के रूप में कार्यान्वित करने के हैं। दूसरे शब्दों में, इन दो में से कोई एक पूर्ण मन संयम का साधन तभी बन

सकेगा जब वह दूसरे के साथ जुड़ा होगा। अभ्यास-वैराग्य के सह-अस्तित्व का विचार उपनिषदों में दो पक्षियों के रूपक के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। वह रूपक इस प्रकार है: "एक वृक्ष की एक ही शाखा पर दो पक्षी बैठे हैं, परन्तु उनमें एक सुस्वादु फल खाता है, और दूसरा चुपचाप देखता रहता है।" साथ तो अवश्य हैं ,परन्तु केवल द्रष्टा बने रहें यही शिक्षा हमें गीता अभ्यास वैराग्य के सहअस्तित्व की सूचना के द्वारा दे रही है। अभ्यास तभी संभव है जब हम नित्य-जीवन की समस्त क्रियाओं में व्यक्तिगत कल्याण के लिए हो चाहे सामाजिक उन्नति के लिए-सक्रिय सहयोग दें। परन्तु वैराग्य निवृत्ति की बात कहता है तो उस का आशय यही है कि जो कुछ हो रहा है, उस में हम केवल द्रष्टा या साक्षी बने रहे।

जब हम किसी प्रवृत्ति में भाग लेते हैं तो वह भाग लेने वाला कौन है? वह केवल शरीर नहीं है, मन भी है। वस्तुतः मनुष्य जो कुछ करता है उसमें मन का बहुत बड़ा और प्रमुख हाथ होता है। प्रवृत्ति या कर्म में जब हम लगते हैं, तब वह सारा कर्म करने वाला मन ही है। इसलिए अभ्यास और वैराग्य के एक साथ रहने का अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को अपने कर्म में लगे हुए मन का द्रष्टा बनना होगा। मन को संबंधों के दर्पण में ही देखा जा सकता है। श्री कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि यदि मनो-निग्रह करना है तो उसकी सर्व श्रेष्ठ और यशस्वी प्रक्रिया यही है कि जीवन के संबंधों में हम अपने मन की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को देखें। मनो-निग्रह के लिए न मन का निरोध करना है, न उपभोग; बल्कि मन का अवलोकन भर करना है। गीता का कथन है कि अपने मन के संचार और कर्मों का स्वयं साक्षी बनना मन की अस्थिरता का हल करने का सर्वोत्तम उपाय है।

भगवद्‌गीता के षष्ठ अध्याय में श्री कृष्ण ने आत्मसंयम-योग उपदेश किया है और कहा है कि वह अवस्था विनियत चित से प्राप्त की जा सकती है। चित की विनियत अवस्था अर्थात् मनोनियमन-जन्य युक्तावस्था तभी प्राप्त होती है, जब मनुष्य यह देख सके कि मन कहाँ जा रहा है और कहाँ से आ रहा है और कैसे काम कर रहा है। मनोगति का हेतु, उसका संचार और उसकी कार्य-पद्धति का निरीक्षण करना होगा। इसी निरीक्षण से मनः शक्ति को सही दिशा प्राप्त होती है। मन को सही दिशा तभी प्राप्त हुई

कहा जा सकता है जब मनुष्य अपने मूल स्वभाव से प्रेरित हो कर कर्म करता, और मूल स्वभाव से प्रेरित मार्ग पर ही चलता है। समझने की वस्तु ये ही दो हैं—स्वभाव और स्वधर्म, सत्व और अभिव्यक्ति। मनुष्य जब स्वधर्म में प्रतिष्ठित होता है तभी उसकी शक्ति सही दिशा में काम करती है और स्वधर्माचरण तभी संभव है जब वह स्वभाव में अवस्थित होता है। इसलिए योगसिद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण और मूलभूत साधना की बात यही है कि मनुष्य अपने मूल स्वभाव को जाने जिससे उसकी सारी शक्तियाँ योग्य दिशा में काम करने लगें। परन्तु प्रायः मनुष्य के स्वभाव पर ऐसे तत्त्व छा जाते हैं जो विषयभोग के समय मन के द्वारा संचित होते हैं। जब तक हम समझ न लें कि मन ने क्या संचित कर रखा है, किस प्रकार संचित किया है और किस हेतु से संचित किया है, तब तक हम अपने निज स्वभाव को ठीक से नहीं समझ पायेंगे। इस समय हमारी सारी शक्तियों का अपव्यय इन चित्त संचित तत्वों के संरक्षण और परिपोष में ही हो रहा है। इसमें शक्ति का निरन्तर ह्रास होता जाता है, जब की अध्यात्म-जीवन के लिए शक्ति का उत्तरोत्तर अधिकाधिक सतत स्फुरित होते रहना आवश्यक है। चित्त यदि कहीं बंधा होता है तो यह शक्तिसृजन असंभव है। यह तो तभी संभव होता है जब चित्त सर्वथा मुक्त होता है, स्वतन्त्र होता है। फिर चित्त को स्वतन्त्र और मुक्त करने के लिए यह देखना और समझना आवश्यक है कि वह संकीर्ण मर्यादाओं मे किस प्रकार सीमित होता है। चित्त की बंधनकारी प्रक्रिया को समझना ही उसे बन्धनमुक्त करने की प्रक्रिया है, उस की मुक्ति का उपाय है।

स्मरण रखने की बात यह है कि मनो-निग्रह सरल नहीं है, अत्यन्त कठिन है। अर्जुन इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं है इसीलिए श्री कृष्ण से वह पूछता है कि जो मनुष्य सर्वात्मना प्रयत्न करने पर भी सिद्धि पाने से वंचित रह जाता है, उसकी क्या गति होगी। शिष्य को गुरु सान्त्वना दे रहा है कि मुख्य वस्तु सिद्धि या असिद्धि नहीं है, सही प्रयत्न है। सही प्रयत्न करने वाले मनुष्य का अकल्याण कभी नहीं होता। परन्तु सही प्रयत्न में हेतु ही सर्व प्रमुख होता है, कर्मस्वरूप नहीं। हेतु रहित कर्माचरण करने वाले को आनन्द की ही प्राप्ति होती है, पुण्यलोक की प्राप्ति होती है, दुर्गति नहीं। योगी ही जानता है कि निष्काम कर्म या अहेतुक कर्म क्या है। गीता कहती है :

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।

—'हे अर्जुन, योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है और कर्मियों से भी श्रेष्ठ है, इसीलिए तुम योगी बनो।'

व्रताचरण करनेवाला तपस्वी भक्तिभावना भावित होता है। अहंशून्यता की साधना द्वारा अपने आराध्य को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। श्री कृष्ण कहते हैं कि योगी भक्तों से भी श्रेष्ठ है। योगी ज्ञानियों से श्रेष्ठ और कर्मरत पुरुषों से भी श्रेष्ठ है। इसका तात्पर्य क्या है? इसका अर्थ यही है कि योगी वह समग्र और पूर्ण व्यक्ति है जिसमें ज्ञान कर्म और भक्ति तीनों का समन्वय है, तीनों एक हो गये हैं। जिस पुरुष के चित्त में पूर्ण समाधान है, परम साम्य है अर्थात् जो योगी है, उसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों एक दूसरे में अत्यंत सघन रूप से, निविडता से आत्मलीन हो चुके होते हैं। भगवद्गीतोक्त योगमार्ग की प्रमुख और मौलिक विशेषता यही साम्य योग है, यही पूर्णयोग है। कोई इसे कर्म योग का नाम दे सकते हैं जिस का अधिष्ठान यह भक्ति है, वह आत्मसमर्पण है, जो उस ज्ञान से निष्पन्न है जो कि सत्यदर्शन की अशोष दृष्टि प्रदान करता है, अव्यक्त का साक्षात्कार कराता है।

अब तक के अध्यायों में गीता ने कर्म-सिद्धान्त का मीमांसा की है और अब ज्ञानमार्ग का विवेचन प्रारम्भ होता है, जिसकी प्राप्ति से परा भक्ति के, परम आत्मसमर्पण के तत्व और रहस्य खुल सकते हैं और जिस में वैयक्तिक इच्छा वैश्विक इच्छा में लीन हो जाती है।

सप्तम अध्याय

संस्पर्श रहित तादात्म्य

ज्ञान में और प्रज्ञा में मौलिक अन्तर है। ज्ञान मनकी प्रवृत्तिमयता का परिणाम है। ज्ञान की प्राप्ति निरन्तर चलनेवाली एक क्रमिक प्रक्रिया है। मन प्रायः कल्पना द्वारा अपनी जानकारी के कई टुकड़ों को मिलाकर उसे एक समवेत (सिन्थेसिस) आकार दिया करता है और वही ज्ञान कहलाता है। मन का ज्ञान तुल्य वस्तुओं की जानकारी का मात्र संकलन हुआ करता है और इसीलिए ऐसी समवेत ज्ञान-रचना सार्वजनीन (युनिवर्सल) होती है। ज्ञान चूँकि मन की उपज है, इसलिए वह केवल बाह्य आकारात्मक होता है मूल शोधनीय वस्तु से उसका कोई मतलब नहीं होता। प्रज्ञा इस से सब तरह से भिन्न है। प्रज्ञा की लब्धी ज्ञान के प्रसार से ही नही होती है ज्ञान चाहे जितना बढ़े, उसका अमर्यादित प्रसार क्यों न हो, ज्ञान ज्ञान ही रहने वाला है। लघु-आयाम को चाहे जितना फैलाया जाय, तब भी वह लघु ही रहता है, बृहद् आयाम नहीं बनता, उसी प्रकार ज्ञान आकार-विस्तार से कभी प्रज्ञा नही बन सकता। ज्ञान और प्रज्ञा का भेद गुणागत है, स्वरूपात्मक है। इसलिए आकार-गत विस्तार से-वह चाहे जितना विशाल क्यो न हो-चाहे जितना वैविध्यपूर्ण हो, वह भेद मिटाया नहीं जा सकता। ज्ञान क्रमप्राप्य है, परन्तु प्रज्ञा क्षण-मात्र मे उद्‌भावित होने वाली है, प्रज्ञा में समग्र अनुभूति है, जब की ज्ञान में अंश का दर्शन होता है, समग्र की अनुभूति तो सहसा हुआ करती है, कालान्तरप्राप्य नहीं होती, लेकिन सम्पूर्णता कालक्रमगम्य है, क्योंकि विभिन्न अंशों के एकत्रीकरण से वह बनी होती है।

अंशों का समुदाय नहीं है। वह अंश का अन्तवर्ती अवश्यहै, लेकिन कि है। अंश में समग्र को देखना प्रज्ञा है। गीता के शब्दों में करने वा विभक्तेषु—अंश में अंशातीत को देखना प्रज्ञा का प्रमुख हेतु ही सर्व प्रभु विभक्त है, वह मन के द्वारा संकलित समूह-विशेष नहीं वाले को आनन्द की अन्तसत्व है, वह एक ऐसा अमूर्त तत्व है जो नहीं। योगी ही जान भी सत्य है, जो कि व्यक्ति मात्र मे ऐश्वर्य भरता गीता कहती है।

है, उसे रूपवान बनाता है और वही है जिसके द्वारा अव्यक्त का, समग्र का संदेश प्राप्त होता है। ज्ञान के कारण मन में संचयजन्य गर्व उत्पन्न होता है, परन्तु प्रज्ञा सदा विनम्र है उसके पास कोई संचय नहीं है। अमूर्त का संचय हो भी कैसे? उसका तो अनुभव किया जा सकता है, उससे चिपका नहीं जा सकता। अमूर्त से तो संस्पर्श-रहित तादात्म्य ही संभव है और इस तादात्म्य से सम्पन्न पुरुष जीवन का भेद जानता है, मृत्यु का रहस्य जानता है श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं:

> ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
> यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

—'मैं तुम्हें विज्ञान सहित ज्ञान अर्थात् परिपूर्ण, निःशेष ज्ञान बताता हूँ, जिसे जानने के बाद जानने योग्य कुछ शेष नहीं रहता।'

जब मनुष्य किसी वस्तु का अशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब उस वस्तु की पूर्णता को भी समझ लेता है। पूर्ण ज्ञान प्राप्तकरने पर मनुष्य वस्तु-मात्र के मूल स्रोत के साथ' उसके स्रष्टा के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। यही योग दृष्टि कहलाती है। इस योग दृष्टि से संपन्न पुरुष को तान्त्रिक अथवा अतिभौतिक शक्तियां सिद्ध हो जाती हों सो बात नहीं: क्योंकि यह तादात्म्य ऐसा नहीं है जो अतिभौतिक स्तरों में भौतिक स्तर से अधिक सुलभ होता हो! श्री कृष्ण इसी तथ्य की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैं:

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।

—'यह सिद्धि पाने का प्रयत्न हजारों में कोई एक करता है और ऐसे प्रयत्नवान सिद्धों में भी कोई विरला ही 'मुझे' तत्त्वतः जानता है।'

यह सत्य है कि अतिभौतिक शक्ति प्रदान करनेवाली सिद्धियों के मार्ग पर चलनेवाले 'इस संसार में, विरले ही हैं फिर भी जो कोई इन सिद्धियों को पा लेता है, उसे भी शायद ही तत्त्व की अनुभूति होती हो। महत्त्व की बात शक्ति की अधिकता नहीं, संवेदना की अनुभूति है: संवेदनमय अनुभूति जिस पुरुष को होगी वह वस्तुओं के गूढ़ तत्त्व को अभी और

यहीं अनुभव कर सकता है। यह तत्व व्यक्त के अन्दर ही निहित है, फिर भी व्यक्त का विश्लेषण करने से और उसके आकार का पृथक्करण करने से वह दृष्टिगोचर होनेवाला नहीं है। जब मनुष्य अगोचर का सन्देश इसी दृश्य पदार्थ में पाने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, तभी उसके सामने जीवन का महान् रहस्य खुल जाता है। गीता इस सप्तम अध्याय में इसी गोचर और अगोचर की समस्या पर विचार कर रही है। निम्न श्लोक में श्रीकृष्ण व्यक्त के सम्पूर्ण क्षेत्र का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं :

भूमिरापोऽनलो वायुः खंमनोबुद्धिरेव च
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।"

—'मेरी प्रकृति अष्टविध है, और वह है भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार।'

यहाँ श्री कृष्ण ने व्यक्त सृष्टि के पूरे क्षेत्रका पृथक्करण प्रस्तुत कर दिया हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश भौतिक सृष्टि के व्यक्त रूप हैं; और मन, बुद्धि तथा अहंकार व्यक्त सृष्टि के अभौतिक रूप हैं। मन और बुद्धि दोनों चित्त की ही दो भिन्न शक्तियाँ हैं, चित्त के ही दो पहलू हैं: स्थूल और सूक्ष्म। दूसरे प्रकार से कहना हो तो मन विकारप्रधान है, बुद्धि विचार या तर्कप्रधान है। अहंकार विचार मात्र का निचोड़ है। नित्यता की प्रक्रिया यही है, जो विचार का मूल आधार है। उपर्युक्त श्लोक में श्रीकृष्ण ने जो अष्टविध व्यक्त तत्वों का वर्णन किया है, "उसे मेरी ही प्रकृति के भेद" कहा है। यह व्यक्त एक प्रकार से वह वर्णच्छटा है, (स्पेक्ट्रम है) जिसमें अव्यक्त का ही एक उज्जवल धवल प्रकाश आठ रूपों मे विभक्त हो कर दिखाई देता है। परन्तु यह वर्णच्छटा स्वयंभू नहीं है, उसका अस्तित्व पराधीन है, किसी अन्य मूल वस्तु पर अवलंबित है। वह एक ऐसे उज्ज्वल प्रकाश से अनुप्राणित होता है, उसी मे चलता है और उसी का उपजीव्य है, जो सामान्य चर्मचक्षुओं के लिए आगोचर है। दूसरे शब्दों में, व्यक्त अव्यक्त में से अभिव्यक्ति पाता है। और इसलिए व्यक्त अव्यक्तरूपी पूर्ण का अंश है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे है कि यह अष्टविध प्रकृति अपेक्षाकृत निकृष्ट है, 'अपर' है, इसलिए उसको परामर्श दे रहे हैं कि :

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।"

—'हे महाबाहु' तुम मेरी परा प्रकृति को जान लो जो जीवस्वरूप है और जो सारे जग को धारण करती है।'

यह निश्चित है कि जग की धारणा इस व्यक्त के द्वारा नहीं होती है, उसका आधार स्रोत अव्यक्त में ही है। जैसा ऊपर कहा है, वह अव्यक्त ही व्यक्त जगत् में अपने अमूर्त और अगोचर रूप को अभिव्यक्त करता है। इसलिए उस अगोचर, अदृश्य के प्रति सजग रहनेवाला पुरुष अनन्मा, अव्यक्त से तादात्म्य स्थापित कर सकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं :

"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रलयस्तथा।"

—'मैं संपूर्ण जगत् का उद्भवस्थान हूँ और उसी प्रकार प्रलयस्थान भी हूँ।'

सभी पदार्थों का मूल स्रोत अव्यक्त ही है। व्यक्त सृष्टि का हम चाहे जितना और चाहे जब विश्लेषण और पृथक्करण कर लें, परन्तु यह अंगउपांगों का परीक्षण हमें उस आदिस्रोत का आकलन नहीं करा सकता। विचार-प्रक्रिया तो व्यक्त की सीमा में ही काम करती है। वह विचार-प्रक्रिया जब समाप्त होती है, तभी अव्यक्त से तादात्म्य संभव होता है। विचार-प्रक्रिया के रुकने पर ही मन परम संवेदनशील हो पाता है। संवेदनशील मन ही अगोचर का साक्षात्कार कर सकता है। श्रीकृष्ण निम्न श्लोकों में अगोचर का यों वर्णन कर रहे हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

—'हे कौन्तेय, मैं जल में रस हूँ, सूर्य और चन्द्र में प्रभा हूँ, वेदों में प्रणव शब्द शक्ति हूँ आकाश में शब्द हूँ, मनुष्यों में पौरुष हूँ, पृथ्वी में पवित्र गंध हूँ, अग्नि में तेज हूँ। हे पार्थ, मुझे भूतमात्र का सनातन बीज समझो।'

"भूतमात्र का सनातन बीज—" यही गीता के 'मुझे' की व्याख्या है। बीज सनातन है अर्थात् कालरहित है, कालातीत है। तो जो कुछ काल में होता है उसका मूल स्रोत वह कालातीत ही है। जब तक मनुष्य उस कालातीत मूल स्रोत से तादात्म्य स्थापित नहीं कर लेता, तब तक कालपति का महत्व वह कैसे समझ सकेगा ? मूलस्रोत से तादात्म्य तभी संभव है जब मनुष्य उस अगोचर के

प्रति सजग, सावधान होता है। जल का रस, सूर्य-चन्द्र की प्रभा, अग्नि का तेज या पृथिवी की गंध क्या वास्तव में अदृश्य और अमूर्त नहीं है? इन की अनुभूति हो सकती है, पर इन्हें कोई हथेली पर नहीं ले सकता। और वह जो शरीर और मन से परे है, तन मन के लिए अगोचर, अव्यक्त तत्व है, वही समस्त व्यक्त का मूल स्रोत है।

व्यक्त मात्र त्रिगुणात्मक है; उन में तमस्, रजस् और सत्व निहित है। श्री कृष्ण कहते हैं—

मत्त एवेति तान्विद्धि, न त्वहं तेषु, ते मयि

—'जान लो कि सब मुझ से हैं, मैं उन में नहीं हूँ; सब मुझमें हैं।' इस एक वाक्य में सर्वमयता को तथा सर्वातीतता की स्पष्ट व्याख्या आ जाती है। श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि 'ये गुण मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं।' यह निश्चित है कि समस्त सृष्टि उस अतीत अव्यक्त से उत्पन्न हुई है। इस लिए गुणत्रय भी उसी अव्यक्त की उपज हैं, एक ही उज्ज्वल धवल प्रकाश की विभिन्न रूपच्छटाएँ हैं। यद्यपि ये गुण अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं, फिर भी अव्यक्त इन से बंधवा नहीं है, वे उसे बाँध नहीं सकते। अव्यक्त में व्यक्त रह सकता है, रहता है, परन्तु व्यक्त में अव्यक्त कैसे रह सकता है? व्यक्त में अव्यक्त के संकेत रह सकते हैं, हैं भी, परन्तु व्यक्त अपने अन्दर अव्यक्त को कैसे समा ले सकता है? इस के अलावा जब कि सत्य सर्वव्यापी है, वह साथ ही सर्वातीत भी है। जो निराकार है, उसे आकार में सीमित नहीं कर सकते। 'परतत्व' को व्यक्त के भीतर आबद्ध नहीं कर सकते। स्रष्टा सृष्टि से बड़ा है। वह अपनी सृष्टि में उसी तरह समाया हुआ है जैसे गायक अपने गायन में समाया होता है। गायन चाहे जितना उत्तम क्यों न हो, गायक को अपने में बाँध नहीं सकता। गायन गायक के अधीन है, गायक गायन के नहीं। गायक कभी भी गायन से उत्कृष्ट है, पर है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिःसर्वमिदं जगत्,
मोहितं, नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।

—'यह सारा जग इन त्रिगुणात्मक भावों से मोहित है। वह मुझे जो कि इन सबसे परे और अव्यय हूँ, जानता नहीं है।'

अव्यक्त इन तीनों गुणों से तथा उनके स्वभाव से परे है। अव्यक्त अव्यय है, अक्षय है: ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्य अपने सौर-मण्डल के अंतर्गत

सुदूर कोने-कोने का अन्धकार मिटाने के लिए प्रतिक्षण करोड़ों किरणें उगलते हुए भी तिलमात्र क्षीण नहीं होता। व्यक्त तो केवल एक निदर्शन है जो अव्यक्त का संकेत देता है। जो इस प्रतीक को ही मूल वस्तु मान ले, तो समझना चाहिए कि वह माया के वश है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते—जो मेरी ही शरण आते हैं वे इस माया को तर जाते हैं। जो व्यक्ति अव्यक्तमय होते हैं, वे ही इस माया से मुक्त होते हैं और प्रतीक को ही मूल समझने की भूल नहीं करते हैं। इस प्रकार जो व्यक्त को अव्यक्त का प्रतीक समझता है वही सच्चा ज्ञानी है।

सत्य का शोधन वस्तुतः सावधानता के प्रकर्ष की स्थिति है, अर्थात् चक्षुग्राह्य सृष्टि के बीच अगोचर तत्त्व के प्रति सावधान रहने की स्थिति है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि सत्यशोधन करनेवाले कई प्रकार के लोग हैं—संत्रस्त से ले कर जिज्ञासु तक। ऐसे भी लोग हैं जो संपत्ति की, सत्ता की या अतिभौतिक सिद्धियों की अधिकाधिक उपलब्धियों के हेतु से सत्य शोधन में प्रवृत्त होते हैं। गीता कहती है कि ज्ञानियों का शोधन ही वास्तव में शुद्ध है, निष्पाप है। ज्ञानी ज्ञान के भार से मुक्त होते हैं और इसीलिए अत्यन्त विनम्र रहते हैं। इन विविध सत्य-शोधकों की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'ये सबके सब उदार हो है, परन्तु ज्ञानी तो मेरे ही स्वरूप हैं, ऐसा मेरा मत है—उदाराः सर्व एवैते, ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। यहाँ; भगवान् यह संकेत दे रहे हैं कि ज्ञानी अजन्मा, अव्यक्त में ही अवस्थित है। कहते हैं—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः
मूढोऽयं नाभिजानाति लोकोमामजमव्ययम्।"

—'योगमाया से आवृत मैं सबके लिए गोचर नहीं हूँ। मुझ अजन्मा, अक्षय को यह मूढ़ संसार पहचानता नहीं है।'

मनके द्वारा निर्मित माया का यह आवरण जब छट जायेगा तभी उस अजन्मा, अव्यय का वास्तविक शोध प्रारंभ होगा। गीता जिस माया का उल्लेख कर रही है वह मनका ही प्रक्षेप है। ज्ञानी मायामुक्त हैं, क्योंकि वे द्वन्द्वों के बीच भटकनेवाले मन से परे उठ चुके होते हैं। गीता कहती है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन, भारत,
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति, परंतप।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्व मोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।

—'हे भारत, राग और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वों के मोह से संसारके समस्त भूत मोहित होते हैं। हे परंतप, जिन पुण्य शाली जनों के पाप समाप्त हो जाते हैं वे द्वन्द्व मोह से मुक्त हो कर सुदृढ व्रतनिष्ठा से मुझे भजते हैं। गीता उन को पुण्यवान कह रही है जिनके पाप मिट चुके हैं। यहा पाप निर्मुक्ति का क्या अर्थ है? आखिर पाप क्या है? पाप उस कर्म का नाम है, जो अति की सीमा में पहुंच जाता है। यह अतिरेक तब होता है, जब चित्त की समता नष्ट होती है। इसलिए किसी भी वस्तु को, प्रसंग को, विचार को, जब हम उस के योग्य और समुचित स्थान और मान देते हैं, तब हमारा पाप समाप्त होता है। इस के लिए दृष्टि की पूर्णता आवश्यक है, और दृष्टि मे पूर्णता तब आती है जब मिथ्या द्वन्द्वों से मन मुक्त होता है। मन का स्वभाव हैं कि वह द्वैत-भाव में भ्रमित होता है और एक को दूसरे का विरोधी देखने लगता है। विचार भी तो द्वन्द्वों की ही उपज है। पाल रबीजेक अपनी पुस्तक "थिंकिंग आफ आपोजिट्स्" में लिखते हैं कि ' द्वन्द्व हमें विचार करने के लिए विवश करते हैं।' चूंकि विचार-प्रक्रिया में द्वन्द्वाभिघात अपरिहार्य है, इसलिए सम्यक् ज्ञान निर्विचार दशा में ही संभव है। निश्चित ही पाप-विमुक्ति का आशय विचार-प्रक्रिया से विमुक्त है। इस विचार मुक्ति की अवस्था में साधक को अजन्मा, अव्यक्त का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता ही है।

ज्ञान मार्ग के दो भाग हैं—व्यक्त का ज्ञान, और अव्यक्त का भान। गीताने व्यक्त ज्ञान का त्रिविध विश्लेषण प्रस्तुत किया है। एक है अधिभूत, दूसरा अधिदैव और तीसरा अधियज्ञ। अधिभूत व्यक्त भौतिक सृष्टि है और अधिदैव व्यक्त सूक्ष्मसृष्टि है, चूंकि यज्ञ-यागादि कर्मानुष्ठान की ओर यज्ञकर्ता की मूल प्रेरणा का द्योतक है, इसलिए अधियज्ञ शब्द व्यक्त मानस-सृष्टि का वाचक है। जो जान गया है कि वह इस त्रिविध सृष्टि में व्यवहार कर रहा है, उसका चित समत्वयुक्त होता है, इसलिए अव्यक्त से तदात्म होता है। सप्तम अध्याय के अन्त में ये तीनों नये शब्द —अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ-गीता ने प्रयुक्त किये हैं और इन का विवरण आगे अष्टम अध्याय में वह प्रस्तुत करने वाली है।

इस सप्तम अध्याय को 'ज्ञानविज्ञानयोग' नाम दिया गया है, यानी विवेचना युक्त ज्ञान का विवरण देनेवाला योग कहा है। व्यक्त को जानने का और अव्यक्त को पहचानने का विषय कहा गया है, ज्ञान और प्रज्ञा का अन्तर कह कर स्पष्ट किया गया है, जहाँ ज्ञान वहिरंगप्रधान है, वहाँ विवेक अन्तरंगप्रधान है। श्री कृष्ण अर्जुन में अन्तरंगप्रधान प्रज्ञा को ग्रहण कर सकने की क्षमता निर्माण कर रहें हैं, । यह आन्तरिक अनुभूति प्राप्त करने के लिए उससे पहले वस्तु लक्षी दृष्टि से व्यक्त जगत् के समस्त व्यवहारों को देखने की योग्यता चित्त की होनी चाहिए। अष्टम अध्याय में प्रवेश करते ही हम देखेंगे कि श्री कृष्ण अर्जुन को ब्रह्माण्ड की आमूल विकास परम्परा का वस्तु लक्षी दर्शन करा रहे हैं।

अष्टम अध्याय

अगोचर और अतिन्द्रिय

भगवद्गीता का प्रमुख विचारणीय विषय 'व्यक्त और अव्यक्त' है। अर्जुन ने विषण्ण हो कर जब धनुष-बाण त्याग दिया और श्रीकृष्ण से चर्चा आरम्भ की, ठेठ उस प्रथम प्रश्न से ही श्री कृष्ण व्यक्त का सार और अव्यक्त का अक्षय स्वभाव ठीक से समझ लेने की आवश्यकता पर बल देते आये हैं। उसी अव्यक्त की चर्चा के सिलसिले में उन्होंने कर्म-मीमांसा प्रस्तुत की है। वे वारम्बार सूचित कर रहे हैं कि उस अजन्मा, अव्यक्त से तादात्म्य साध लेना परम आवश्यक है, और उसके बिना सम्यक् कर्म, कर्मयोग असम्भव है। परन्तु प्रश्न है कि अव्यक्त से तादात्म्य क्या है? इसी प्रश्न के उत्तर में श्री कृष्ण गीता के सप्तम अध्याय में ज्ञान और प्रज्ञा समझाते हैं और वही विषय इस अध्याय में भी है। श्रीकृष्ण अर्जुन का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करते हैं कि जब हम व्यक्त के गुण-धर्म को ठीक से जान लेंगे, तभी वास्तव में अव्यक्त स्वरूप समझ सकेंगे। इस सिलसिले में तीन शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया—अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ; क्योंकि इन्हीं तीनों में सारा व्यक्त जगत् समाविष्ट है।

अर्जुन इसी व्यक्त-सम्बंधी प्रश्न का विश्लेषण चाहता है और उसके इसी प्रश्न से अष्टम अध्याय प्रारम्भ होता है। अर्जुन पूछता है;

> किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम
> अधिभूतं च किं प्रोक्तं अधिदैवं किमुच्यते।

—'हे पुरुषोत्तम, वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहते हैं, और अधियज्ञ किसका नाम है।'

पूर्वोक्त तीन शब्दों के साथ यहाँ एक चौथा शब्द जोड़ दिया है—'अध्यात्म'। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण क्षर और अक्षर का, विनाशी और अविनाशी का उल्लेख करते हैं। गीता में ब्रह्म और पुरुष में अन्तर दिखाया

गया है। ब्रह्म परमतत्त्व है, निर्गुण है; पुरुष सगुण है। इसी प्रकार का भेद उपनिषदों में भी किया गया है। डा० राधाकृष्णन् गीता की अपनी व्याख्या में कहते हैं—"ब्रह्म और ईश्वर का भेद माण्डूक्योपनिषद् में बहुत स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। ईश्वर ब्रह्माण्ड का स्वामी है, जब कि ब्रह्म ब्रह्माण्डातीत सत्य है।"

गीता कहती है कि ब्रह्म अव्याख्येय है। श्री राधाकृष्णन् के ही शब्दों में 'वह अविकारी, अपरिणामी सत् तत्त्व है जिस पर जीवमात्र का अस्तित्व और व्यवहार चलता है।" निखिलव्यक्त सृष्टि का मूल आधार ब्रह्म है। गीता आगे चलकर कहती है कि 'स्वभाव को अध्यात्म कहते हैं'—स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। इस का अर्थ है जीवात्मा के रूप में ब्रह्म की अभिव्यक्ति अध्यात्म है। 'आत्मा' मनुष्य और भूतमात्र का सत्त्व है, समस्त व्यक्त जगत् में ब्रह्म का ही स्पर्श है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से तीन प्रश्न पूछे—ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है, कर्म क्या है? गीता के अनुसार ब्रह्म और आत्मा का तात्पर्य हमने समझा। ब्रह्म परमतत्त्व है, अविकारी है। आत्मा जीवरूप है जो ब्रह्म से उत्पन्न होता है, जिसमें ब्रह्म का तत्त्व निहित है। और उस उत्पत्ति का नाम कर्म है। भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः—'वह भूतमात्र के उद्भव का कारण है।' डा० राधाकृष्णन् कहते हैं—

अविकारी तत्त्व जो विषय और विषयी के द्वैत से परे है, ब्रह्माण्ड की सीमा से शाश्वत विषयी बनता है, एवं अध्यात्म कहलाता है और उसका शाश्वत विषय जो परिवर्तनशील है एवं सब प्रकार का स्वरूप धारण करने में सक्षम है—प्रकृति कहलाता है, जब कि सृजनात्मक शक्ति, सृष्टि की गतिमयता का मूल कारण कर्म है। —विषय और विषयी की पारस्परिक क्रिया (इण्टरऐक्शन) जो कि सृष्टि का मूलाधार है, ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है उस ब्रह्म की जो ब्रह्म, विषय-विषयी-भेद से परे है।"

विषय-विषयी-भेद से परे जो ब्रह्मतत्त्व है, उसी में से समस्त विषय और विषयी अस्तित्व पाते हैं। विषयी, पुरुष या ईश्वर है, और विषय प्रकृति या मूल द्रव्य है। पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध का नाम कर्म है जिसका विवेचन गीता इस अध्याय के तृतीय श्लोक में करती है। विषयी का अर्थ पुरुष और जीव दोनों हो सकता है, क्योंकि सृष्टि का एक बुनियादी सिद्धान्त है कि "जो ऊपर है वही नीचे है।" विषयी का अर्थ जब हम जीव करते हैं तब विषय

रूपी सृष्टि से उस के सम्बन्ध को कर्म कहना होगा। दूसरे शब्दों में व्यष्टि और समष्टि दोनों स्तरों पर विषय और विषयी के पारस्परिक सम्बन्ध का नाम कर्म है।

परन्तु अर्जुन के प्रश्न का आशय ब्रह्म, आत्मा और कर्म की व्याख्या तक ही सीमित नहीं था, वह द्रव्यज्ञान और दिव्य ज्ञान भी जानना चाहता था, यानी वह अधिभूत और अधिदैव के बारे में स्पष्टता चाहता था। साथ ही अधियज्ञ जानने की भी उस ने अभिलाषा व्यक्त की थी। इन तीनों का उत्तर श्री कृष्ण दे रहे हैं :

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्,
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे, देहभृतां वर।

—'अधिभूत विनाशशील है, क्षरभावयुक्त है, अधिदैव प्राणदायी शक्ति से सम्बन्धित है, *पुरुष सम्बन्धी है, हे पुरुष श्रेष्ठ, अधियज्ञ मुझ देहधारी का* ही नाम है।'

द्रव्य, शक्ति और चिन्तन—इन तीनों का उल्लेख इस श्लोक में व्यक्त सृष्टि के अंग के रूप में किया गया है। द्रव्य विनाशशील हैं, उन्ही से सृष्टि के स्थूल पदार्थ बने हैं। इन स्थूल द्रव्यों के मूर्त होने से 'तेजस्' से शक्ति प्राप्त होती है यह तेजस् तत्त्व ज्योतिर्लोक का है, जो तेज शब्द से ही स्पष्ट है। स्थूल सृष्टि में घटित होने वाली घटनाओं के पीछे निस्संदेह भावना काम करती है। यज्ञ, जैसा कि पिछले अध्याय में हमने देखा, प्रेरणा का द्योतक है और उसी से सारा मनोजगत् बना है। श्री कृष्ण कह रहे हैं—'मुझ देहधारी का ही नाम अधियज्ञ है। इस प्रकार अधियज्ञ का अर्थ निश्चित ही व्यक्त सृष्टि का ज्ञान है, अव्यक्त का नहीं। सृष्टि के सम्बन्ध में बोलते हुए श्री कृष्ण कहते हैं :

आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन,
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।

—'हे अर्जुन, ब्रह्मलोकपर्यन्त सारे लोक आवागमनयुक्त हैं, उन में जाना-आना जारी है, परन्तु हे कौन्तेय, मुझमें जो आता है, उसके लिए पुनर्जन्म नहीं है।'

ब्रह्मलोकतक के सभी लोक, यानी जितने भी सूक्ष्म लोग हैं, सब सृजन और विलय के विषय हैं। यानी वे सब व्यक्त सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं। परन्तु

श्री कृष्ण कह रहे हैं कि 'जो मुझमें आता है, उसके लिए जन्म और मृत्यु नहीं है'—क्योंकि वह काल से परे हो जाता है। अव्यक्त काल बस नहीं है, इस लिए जन्म और मृत्यु की सीमा से परे है : सृजन और विनाश व्यक्त सृष्टि के अनिवार्य अंग हैं, और चूँकि अव्यक्त अजन्मा है, इसलिए वह सदा अमर है। गीता कहती है :

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके

—'सभी व्यक्त जगत् दिन के आगमन के साथ अव्यक्त से उद्भूत होते हैं, और रात्रि के आगमन के साथ उसी अव्यक्तात्मक तत्त्व में लीन हो जाते हैं।'

गीता अव्यक्त को दो श्रेणियाँ बतलाती है। सामान्यतया जो तत्त्व दृष्टि-गोचर नहीं होता है, उसे अव्यक्त कहते हैं। परन्तु एक दूसरे प्रकार का भी अव्यक्त है जो, मनुष्य के अगोचर क्षेत्र में प्रवेश कर जाने पर भी उस के लिए अव्यक्त ही रह जाता है। पहला अगोचर है, तो दूसरा अतीन्द्रिय है। दूसरे ढंग से कहा जाय, तो अगोचरात्मक अव्यक्त आत्मलक्षी है (सब्जेक्टिव) है, और अतीन्द्रियात्मक अव्यक्त परस्वरूप (ट्रान्सेण्डेण्टल) है। अगोचर इसलिए अव्यक्त है कि मनुष्य की दर्शन-शक्ति सीमित है, न्यून है। यदि मनुष्य इस शक्ति को बढ़ा लेता है, तो वह अगोचर; गोचर बन सकता है। यह अगोचरात्मक अव्यक्त, मनुष्य की चेतना का, सूक्ष्म ज्ञान का विषय है। परन्तु जब उस विषयगत तत्त्व को हम वस्तुगत बना लेते हैं, तब वह अगोचर; गोचर की सीमा में आ जाता है। आत्मलक्षी के वस्तुलक्षी बनने की यह प्रक्रिया कालाधीन है। परन्तु अतीन्द्रियकोटि का अव्यक्त कालातीत होता है, उसकी प्रतीति कालाधीन नहीं है। इन्द्रियों की शक्ति के विकास से अतीन्द्रिय का साक्षात्कार नहीं हो सकता। अगोचर से सम्पर्क स्थापित करना, वैज्ञानिक परोक्ष-ज्ञान की शक्ति से सम्भव है, परन्तु अती-न्द्रिय की प्रतीति के लिए प्रातिभ दृष्टि (इन्ट्यूटिव क्लायरवायेंस) अपेक्षित है। अव्यक्त का उक्त द्विविध भेद प्रस्तुत करते हुए गीता कहती है :

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम

—इस अव्यक्त से भी परे एक और अव्यक्त है जो परम सारस्वरूप है, और जो समस्त भूतों के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता।

—'यह अव्यक्त अक्षर कहलाता है, इसे परमगति कहते हैं। इसे जो प्राप्त करते हैं, वे लौटते नहीं हैं। यह मेरा परम धाम है।'

यहाँ गीता कालगत अव्यक्त, और कालातीत परम अव्यक्त—दोनों का विवरण दे रही है। कालगत अव्यक्त—कहने मे विरोधाभास प्रतीत होता है, क्योंकि काल और अव्यक्त का मेल कैसा? काल तो व्यक्त से सम्बन्धित है और वह सापेक्ष द्रव्य है। उसकी गणना मनुष्य की आकलन शक्ति पर निर्भर है। यह आकलन-शक्ति व्यक्ति-व्यक्ति मे भिन्न है। वास्तव मे मनुष्य का विकास उसकी आकलन शक्ति के अनुपात मे ही होता है। विकास क्रमिक वस्तु है, क्रमशः प्राप्त है। यह विकास मनुष्य की आकलनशक्ति की वृद्धि पर निर्भर है। गूढ विद्या से मनुष्य की आकलन शक्ति की परिधि व्यापक होती है। परोक्षदर्शन, परोक्षशब्दश्रवण, मनोगति का ज्ञान, मनोमिति, भविष्य ज्ञान, विपरीत ज्ञान—आदि सब ज्ञान मनुष्य की इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाने से प्राप्त हो सकते हैं। भौतिक विज्ञान और गुह्यविद्या-दोनो स्थूल इन्द्रियों के लिए अगोचर तत्वों का ज्ञान कराने वाली विद्याएँ हैं। दूसरे शब्दों मे, ये विद्याएँ अगोचरात्मक अव्यक्त से सम्बन्धित हैं और वह अव्यक्त काल का आवरण हटते ही प्रत्यक्ष होने वाला है। परन्तु गीता, पर-अव्यक्त की बात कहती है जो इससे उत्कृष्ट है और जो काल में नहीं, कालातीत क्षण मे विद्यमान है। यही सत्य का परम धाम है। गीता कहती हैं:

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।

—'हे पार्थ, वही परम पुरुष है जिसमें भूतमात्र स्थित हैं और जो इन सब को व्याप्त किये हुए है।'

जब समस्त भूतमात्र इस परम अव्यक्त में अवस्थित है, तब यह अव्यक्त उन भूतों के अधीन कैसे होगा? क्योंकि गीता कहती हैं—सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु सः न विनश्यति—'समस्तभूतों के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता।' परन्तु उस पर-अव्यक्त से कोई तादात्म्य कैसे स्थापित करे, जो कि सारी क्षयशील कालगति से परे है?

यहाँ गीता एक अत्यन्त विलक्षण और स्तम्भित कर देनेवाला मार्ग सुझाती है। कहती है कि वही मनुष्य अव्यक्त से तादात्म्य प्राप्त कर सकता है जो मरने की कला जानता है। मरण की स्थिति जान लेना वास्तव में अव्यक्त को जान लेना है, क्योंकि अज्ञात, अव्यक्त के राज्य का द्वार खोलनेवाला मरण ही है। जो इस द्वार से प्रवेश करेगा वही अव्यक्त का रहस्य जान सकेगा। गीता हम से कह रही है :

अन्तकाले च मामेवस्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।

—'अन्त काल में मेरा ही स्मरण करते हुए जो शरीर छोड कर जाता है, वह मेरे साक्षात-स्वरूप को प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं है।'

सामान्यतः हिन्दुओं का विश्वास है कि मृत्यु से पहले मनुष्य की अन्तिम इच्छा के अनुरूप ही उसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है। इस विश्वास के अनुसार, मनुष्य के भविष्य की दृष्टि से उसका अन्तिम क्षण का विचार, मृत्युपूर्वकालीन चिन्तन विशेष महत्व रखता है। यह विचार बड़ा विचित्र लगता है क्योंकि इस से ऐसा भास हो रहा है कि मनुष्य अपने जीवनकाल में चाहे जैसा व्यवहार करता रहे, लेकिन अन्तकाल में ईश्वर का नाम ले लेने से उसे सद्गति मिल जायेगी। लेकिन स्मरणीय है कि अन्तिम क्षण में वही विचार आता है जिसे जीवन भर महत्व दिया जाता रहा हो। जो मनोरथ अपूर्ण रह गया होगा, निश्चय ही उसी की पूर्ति का चिन्तन मरण के उस अन्तिम क्षण में चलेगा। गीता स्पष्ट शब्दों में कह रही है कि :

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।

—'हे कौन्तेय, मनुष्य अन्तकाल में जो-जो भाव स्मरण करते हुए शरीर त्याग करता है, वह सदा उसी भाव में लीन रहने के कारण, उसी भाव को प्राप्त होता है।'

महत्व चिन्तन के क्रम का नहीं, विषय का है। कोई हरिनाम का सैकड़ों जप करता होगा, परन्तु भविष्य तो इस बात पर निर्भर है कि उसका मन कहाँ संलग्न रहता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'अन्तकाल में मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर छूटता है' तो परम आनन्द की अवस्था प्राप्त होगी। लेकिन दिक्कत

यह है कि उस 'मेरा' का चिन्तन नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह अचिन्त्य है, चिन्तन से परे है। यह 'मेरा' अव्यक्त है, कभी चिन्तन का विषय नहीं हो सकता। इसलिए इसमें से एक विलक्षण स्थापना फलित होती है कि—'मेरा चिन्तन करना' यानी चिन्तनमात्र को ही समाप्त कर देना है, निर्विचार हो जाना है। यदि मनुष्य अपने अन्तिम क्षण में पूर्ण निर्विचारदशा में पहुँच जाता है, तो वह उस अव्यक्त की आनन्दमय स्थिति का अनुभव कर सकेगा, जहाँ जीवन तथा मृत्यु का रहस्य खुलेगा। परन्तु विचार-शून्यता के लिए सकल मनोरथों की सम्पूर्ति हो जाना आवश्यक है। कामना शेष रहती है, तो चिन्तन-धारा बनी रह जाती है। चिन्तनधारा का अखण्डित रहना यानी मन की नित्यता का आवर्त जारी रहना। मृत्यु ही अनित्यता का क्षण है। यदि विचार-चिन्तन की धारा अखण्ड रही, तो मनुष्य भले भौतिक मृत्यु पा जाय, फिर भी वह नहीं जानता कि मृत्यु क्या है। मृत्यु कोई भौतिक घटना नहीं है, वह सर्वथा मानसिक अवस्था विशेष है जो पूर्ण अभावात्मक है। मनुष्य जब उस स्थिति में पहुँचेगा, तभी मृत्यु को समझ सकेगा। इसमें कोई शंका नहीं कि मनुष्य शरीर मृत्यु का अनुभव कर सकता है। इस प्रकार जो क्षण-क्षण मृत्यु का अनुभव करता रहता है, वह भौतिक मरण के लिए कभी भी तैयार रहता है। मृत्यु से उसे न लगाव है न भय। क्षण-क्षण मृत्यु पानेवाला मनुष्य ही वास्तव में अमर है, मृत्युंजय है। गीता हमें बता रही है कि किस प्रकार मरना चाहिए ताकि जन्म-मृत्यु की शृंखला से मुक्त हो सकें। श्री कृष्ण कहते हैं :

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्मविदो जनाः।

—'अग्नि प्रज्वलित हो, ज्योति प्रकाशमान हो, दिन का समय हो, शुक्ल पक्ष हो, उत्तरायण हो—ऐसे समय पर जानेवाले ब्रह्मविद् पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।'

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि कैसे मरना चाहिए का ज्ञान, कब मरना चाहिए के ज्ञान पर निर्भर है। यदि हम जान लें कि कब मरना चाहिए, तो यह भी जान लेंगे कि कैसे मरना चाहिए। गीता कह रही है कि अग्नि ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण—ये मरने के उपयुक्त समय हैं। इसका अर्थ क्या है? क्या यही अर्थ है कि इन्हीं स्थूल क्षणों में मरने से सद्गति

मिलेगी ? हमें भूलना नहीं चाहिए कि गीता के कथनों का अर्थ यौगिक लेना चाहिए, स्थूल भौतिक अर्थ नहीं। तो इन पंच-विध अवस्थाओं का यौगिक अर्थ क्या है ? मनुष्य को अग्नि के उद्दीप्त रहते मरना चाहिए, बुझते नहीं। अग्नि के उद्दीप्त रहने का अर्थ है सजग रहना, उद्यत रहना। आलस्य या प्रमाद की अवस्था में रहते हुए मनुष्य मृत्युलोक में प्रवेश नहीं पा सकेगा। गीता कहती है कि सूर्य उज्ज्वल हो तब मरना चाहिए। यहाँ उज्ज्वल सूर्य का संकेत शुद्ध और तेजस्वी बुद्धि की ओर है; मानो जब बुद्धि विवेकयुक्त चिन्तन करने की स्थिति में हो, तब मरना चाहिए। दिन का आशय है कर्मरत अवस्था। मानो मन की सजगता और बुद्धि की तेजस्विता, कर्मों के बीच कायम हो, तब मरना चाहिए। शुक्लपक्ष में मृत्यु को गीता शुभ बता रही है। शुक्लपक्ष वह मासार्ध है जब चन्द्रमा की कलाएँ वृद्धिगत होती रहती हैं। चन्द्रमा प्रेम का उपलक्षण है। इस लिए शुक्लपक्ष ऐसी अवस्था का द्योतक है जहाँ प्रेम ही प्रेम व्याप्त हो, प्रेम की ही सत्ता छायी हुई हो। इसका अर्थ है कि नित्य कर्मों के बीच मन सजग हो, बुद्धि सतेज हो, चित्त प्रेम से सराबोर हो—यही मृत्यु के लिए उपयुक्त समय है।

लेकिन यहीं समाप्त नहीं होता है। गीता कह रही है कि मृत्यु के लिए उचित समय उत्तरायण है। सूर्य जब उत्तराभिमुख संचार में हो, उस समय को हिन्दू लोग मृत्यु के लिए पवित्र मानते हैं। उत्तरायण में आकाश मेघहीन, स्वच्छ निर्मल होता है। आकाश का अनन्त वैशाल्य अनावृत हो उठता है। मन की सजगता, बुद्धि की तेजस्विता और प्रेम की सार्वभौम सत्ता तभी सम्भव है जब चित्त निरभ्र आकाश के समान निर्मल हो। चित्त अत्यन्त विशाल हो, वह निर्लिप्त हो, और घनिष्ठ हो; जो चित्त अपनी पूर्ण विशालता से सम्पन्न होगा, उसी में निर्वैयक्तता और निबिड़ता (इम्पर्सनालिटी और इंटिमेसी) दोनों एकसाथ रहते हैं; विवेक और प्रेम दोनों साथ-साथ रहते हैं। जो चित्त विभु है, व्यापक है वह निर्मल होता है विशुद्ध होता है क्योंकि वह किसी विशिष्ट वस्तु से चिपका नहीं होता, बँधा नहीं होता। मृत्यु का उत्तम क्षण वही है जब चित्त सर्वथा मुक्त हो किसी भी अपूर्ण कामना से विक्षिप्त न हो। शुद्ध चित्त एक निर्मल दर्पण के समान होता है, जिसमें प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ता है, परन्तु उस पर कोई धूल नहीं जमती। चित्तरूपी दर्पण के ऊपर से सारी धूल झाड़ देना ही वास्तव में मानसिक मृत्यु है। उस प्रकार की मृत्यु के क्षण में मन

अपनी कामनाओं का विश्लेषण और पृथक्करण करने नहीं बैठेगा। मानसिक मृत्यु के क्षण में मन जीवन की पूर्णता को विशुद्ध रूप से ग्रहण करने लगता है। जो मन जीवन की पूर्णता का साक्षात्कार कर लेता है वही अव्यक्त का रहस्य जानता है। गीता कहती है :

> अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः
>
> तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।

—'जो मनुष्य अनन्य भाव से सतत मेरा चिन्तन करता है, उस नित्य समत्वप्राप्त योगी के लिए मैं सुलभ हूँ।'

अव्यक्त का साक्षात्कार तभी हो सकेगा जब चित्त पूर्ण अवधानयुक्त होगा —अनन्यचेताः। उस अनन्यभाव में, पूर्ण अवधान में अक्षर अनन्त तत्व का साक्षात् दर्शन होता है।

—:०:—

नवम अध्याय

क्षिप्र सिद्धि

श्रीमती एच० पी० ब्लावेट्सकी अपनी पुस्तक 'दि वायस आफ दि सायलेन्स' में अध्यात्म-साधक से कहती हैं कि उसको चित्त की विशालता के साथ चित्त की गहराई का भी ख्याल रखना चाहिए। मनुष्य अपने भौतिक, भावनात्मक और चित्तात्मक वातावरण के नये-नये क्षितिजों से ज्यों-ज्यों सम्पर्क स्थापित करता जाता है, त्यों-त्यों उसके चित्तकी विशालता बढ़ती जाती है। ऐसे सम्पर्कों के बढ़ने के साथ-साथ उसकी दृष्टि विशाल होती जाती है। दृष्टि-विशालता चित्त-विकास का द्योतक है और उसके क्षेत्र-विस्तार का भी सूचक है। परन्तु चित्त की परिमाण-वृद्धि ही पर्याप्त नहीं है, गुण-वृद्धि भी होनी चाहिए। चित के गुणों की वृद्धि तब होगी जब उसकी गहराई बढ़ेगी। चित की गहराई बढ़ने से जीवन में नई गरिमा का संचार होता है, उसकी नवीनता प्रस्फुरित होती है। इसीका नाम चित्तका नवनिर्माण है। यही चितका पुनर्नवीकरण है। चित्तको विशालता के लिए चितका वैज्ञानिक विकास आवश्यक है, परन्तु उसको गहराई बढ़ाने के लिए उसकी धर्मनिष्ठा परम आवश्यक है। जो चित्त विशाल है, परन्तु गहरा नहीं है, वह छिछला होता है, इसी तरह जो चित्त गहरा है, परन्तु विशाल नहीं है, वह अपने अनुभवों को दूसरों के लिए हृदयंगम कराने में असमर्थ होता है। भगवद्गीता के नवम अध्याय के प्रथम श्लोक में ही श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं:

> इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे
> ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात।

—'तुमको, जो दोषदृष्टि रहित हो, विज्ञानसहित यह गुह्यतम ज्ञान बताउँगा जिसे जानकर तुम अशुभ से मुक्त होओगे।'

यहाँ गीता ज्ञान और विज्ञान की, अर्थात् आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दोनों प्रकार के ज्ञान की बात कर रही है। श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि अशुभ से मुक्ति पाने के लिए इन दोनों प्रकार के ज्ञानों की आवश्यकता है। यह अशुभ-मुक्ति

है ? सृष्टिगत समस्त पदार्थों के समुचित स्थान और वास्तविक महत्व का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही अशुभ-मुक्ति है। प्रत्येक वस्तु तथा घटना को उसके समुचित और योग्य स्थान में प्रतिष्ठित करने से भिन्न दूसरी कोई पाप-मुक्ति नहीं है। वैसे अपने आप में कोई वस्तु न शुभ है, न अशुभ। मन अपनी कल्पना से पदार्थों को उत्तम, अधम आदि श्रेणियों में विभाजित करता है और शुभ अशुभ तत्व का निर्माण करता है। वस्तु को उसके स्वभाव से, निज स्वरूप से च्युत करना पाप है, अशुभ है। वस्तु की स्वाभाविक भूमिका निस्सन्देह 'पूर्ण' है। इसलिए ज्योंही कोई वस्तु पूर्णता की पृष्ठभूमि से अलग होती है, त्योंही वह अशुभ बन जाती है। इसलिए पूर्ण और अंश के वास्तविक सम्बन्ध को जान लेना, शुभ और अशुभ के द्वैत से परे हो जाना है। आधुनिक विज्ञान— भौतिक और अति-भौतिक, दोनो अंश का विचार करते है, तो अध्यात्म, जिसमें धर्म और रहस्य विद्या का समावेश है, पूर्ण का विचार करता है। श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक दोनो प्रकार का ज्ञान एकसाथ प्राप्त करना अशुभ से मुक्त होने के लिए आवश्यक है! वे यह भी कह रहे हैं कि गुह्यतम राजविद्या प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है। यह अनुभूति मन के ऊहापोह से प्राप्य नहीं है। मन अपनी कल्पनाओं और धारणाओं के आवरण में ही वस्तुओं को देखता है। वह सीधा कभी नहीं देखता, अपने बहुरंगी चश्मे से ही देखता है। प्रत्यक्ष ज्ञान तभी सम्भव है जब मन के सब आवरण हट जायँ; और मनके आवरणो के हटने का अर्थ है मन का मनस्त्व मिट जाना। निःसन्देह मन का मनस्त्व मिटने पर ही प्रत्यक्षानुभूति सम्भव है और उस स्थिति में ही जीवन का रहस्य प्रकट होता है। सत्य सदा निराकार होता है, इसलिए वह अनंत आकारो मे प्रकट हो सकता है। परन्तु यह आकार चाहे जितने भी सुन्दर हों, सत्य की आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। जैसे चीनी तत्वज्ञान में कहा जाता है—जो 'ताओ' प्रकट किया जा सके, वह शाश्वत ताओ नहीं है। सभी आकार निराकार से प्रस्फुटित होते हैं, फिर भी वह निराकार कभी क्षीण नही होता। निराकार आकारों में अभिव्यक्त होते हुए भी समस्त आकारो से परे है। गीता कहती है :

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।

—'यह सारा जगत् मुझ निराकार से व्याप्त है : भूत मात्र मुझमें स्थित हैं, मैं उनमें नहीं।'

मन केवल आकार ग्रहण कर सकता है। उसका ज्ञान केवल आकारात्मक हैं। निराकार की प्रतीति तो आन्तरिक अनुभूति का विषय हैं। मन वहाँ तक नहीं जा सकता; वह स्वयं मन को प्राप्त हो सकता है। प्रत्यक्ष आन्तरिक अनुभूति मन को तभी प्राप्त होती है जब मन अविचल होता है। वह अनुभूति ही निराकार का रहस्य खोल सकती है निराकार का साक्षात्कार आकारों के द्वारा ही होता है। इसलिऐ मनुष्य को साकार का ज्ञान और निराकार का भान दोनों जरूरी हैं। पहले के लिए वैज्ञानिक बुद्धि और दूसरे के लिए धार्मिक बुद्धि होनी चाहिए। पहला मन की विशालता से ग्राह्य है, तो दूसरा मन की गहराई के द्वारा बोध्य है। और मन की गहराई को शुद्धि वह प्रक्रिया है जिसमें मन शून्य हो जाता है। मन की गहराई का अर्थ है, मन का शून्य हो जाना। उसमें असीम आकाश होता है और उस प्रकार आकाश युक्त मन ही निराकार का आभास पा सकता है। इसलिए श्री कृष्ण कह रहे हैं कि भूत-मात्र उन में स्थित हैं। वे उनमें नहीं। वे अर्जुन से कहते हैं:

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।

—'जिस प्रकार सर्वशक्तिमान और सर्वत्र संचार करने वाला वायु नित्य आकाश में अवस्थित है, उसी प्रकार सर्व भूतों में मुझको अवस्थित समझो।'

आकाश में वायु संचार करता है, परन्तु उससे आकाश लिप्त नहीं होता, सर्वथा अप्रभावित रहता है। निस्सन्देह सूर्य, चन्द्र; आदि सभी ग्रह और तारे आकाश में ही रहते हैं फिर भी आकाश उन से सर्वथा अलिप्त रहता है। आकाश एक ऐसा सर्वव्यापी, अनन्त आधार है जिस में निखिल सृष्टि को स्थान मिला है। यद्यपि उस में आकार की अनन्त गतिशीलता निरंतर जारी है, फिर भी आकाश स्थिर है, परिवर्तनशून्य है, अपरिणामी और अविकारी है। इस उपमा से स्पष्ट होता है कि 'जहाँ ईश्वर सकल सृष्टि का निमित्त है, लेकिन वह स्वयं उसमें अवस्थित नहीं है।' जैसे डा० राधाकृष्णन् कहते हैं—"कोई भी शान्त प्रक्रिया पूर्णतया और अन्तिम रूप से परतत्व को प्रकट नहीं कर सकती।" गीता में इन दोनों—अन्तर्भाव और अतीतावस्था का—बड़ा सुन्दर

समन्वय प्रस्तुत हुआ है। स्रष्टा सृष्टि से भिन्न कुछ और है इसको गीता अपूर्व स्पष्टता के साथ कह रही है। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं:

> अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्
> परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।

—'मैं जो सकल भूतों का स्वामी हूँ, मेरेउस परम भाव को न जनतें हुए मूढ़ जन मुझ मानवदेहधारी की अवज्ञा करते हैं।'

अधिकांश मनुष्य प्रतीक को ही मूल वस्तु मान लेने की भूल करते हैं, मूर्ति को ही परम तत्व समझ लेते हैं। मानव-मन सदा प्रतीकपूजक रहा है—यह प्रतीक चाहे प्रस्तरमूर्ति के रूप मे हो, चाहे विशिष्ट विचार के रूप में। कुछ प्रतीक केवल प्रत्ययगोचर होते हैं, वे अतिसूक्ष्म होते हैं, और इसीलिए प्रायः मनुष्य भूल से उस सूक्ष्म प्रतीक को ही 'सत्य' मान लेता है। इस प्रकार बाह्य आकार को ही प्राधान्य दे लेते हैं और अन्तःसत्व को भूल जाते हैं। मानसिक प्रतीक का भी उपयोग है; वह यह कि उसके सहारे हम प्रतीक-रचना की प्रक्रिया से मुक्त हो। श्रीकृष्ण कहते हैं—सदसच्चाहमर्जुन—'हे अर्जुन, मैं सत् भी हूँ, असत् भी हूँ।' प्रश्न यह है कि सान्त में अनन्त के दर्शन कैसे होंगे? नश्वर में शाश्वत को कैसे देखें? इस दर्शन का अर्थ ही है ईश्वराधिष्ठित हो जाना, अनन्त गतिमयता के बीच अचल स्थिर रहना। परन्तु यह अवस्था कैसे प्राप्त हो? गीता कहती है:

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

—'जो मनुष्य अनन्यभाव से मेरा ही चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मैं उन सतत योगयुक्त मनुष्यों के योग क्षेम का—अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा का—भार उठा लेता हूँ।'

मनुष्य को आन्तरिक सुरक्षा (सेक्यूरिटी) तभी प्राप्त होती है जब वह सुरक्षा की चिन्ता करना छोड़ देता है। मनुष्य में अरक्षा की भावना द्विविध है: एक तो इस बात का भय, कि उसके पास जो कुछ है, वह कहीं छिन न जाय; दूसरा, इस बात की चिन्ता कि उसे आकांक्षित वस्तु की प्राप्ति से वंचित न होना पड़े? ये ही दो बातें हैं जो मनुष्य में सुरक्षा की चिन्ता निर्माण करती

है, अरक्षा का भय पैदा करती है। इन्हीं भौतिक और आन्तरिक अरक्षा की द्विविध चिन्ता से मनुष्य सदा भयभीत रहता है। श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि मनुष्य को अपनी भौतिक आवश्यकता की तथा आध्यात्मिक उन्नति की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे खुद उनकी चिन्ता करनेवाले हैं, बशर्ते कि वह अनन्यभाव से 'मेरी' ही शरण जायें। चूँकि वह 'मेरी' अचिन्त्य है, इसलिए श्रीकृष्ण के कथन का आशय यही है कि मनको अपनी चिन्तन-प्रक्रिया से मुक्त हो जाना चाहिए। जो मन अपनी सुरक्षा की सर्वविध चिन्ताओं को छोड़ देता है, वही द्वन्द्वों के बीच भटकने से छूट पाता है। आखिर मनुष्य सुरक्षा के लिए क्यों व्यग्र रहता है? इस लिए कि वह अपनी निरंतरता को अखण्डित देखना चाहता है। सुरक्षा की चिन्ता से मुक्त हो जाने का अर्थ है अपने ही हाथों अपना मृत्युलेख लिखना। वस्तुतः चिन्तन शून्यता का क्षण ही ईश्वरानुग्रह के साक्षात्कार का क्षण है। डा० राधाकृष्णन् ने अपनी भगवद्गीता में कहा है —

"यदि हम अपने को सर्वथा ईश्वर की कृपा पर ही छोड़ देते हैं, तो वह हमारे सुख-दुःख का भार स्वयं ग्रहण कर लेता है। हम उसकी चैतन्यदायिनी कृपा पर उसकी रक्षणशील चिन्तापर निर्भर रह सकते हैं।"

मनुष्य का मन अपनी पराजय स्वीकार करने को कभी तैयार नहीं होता। हार जाने पर भी उस पराजय का दोष किसी दूसरे पर मढ़ने का प्रयास करता है या ऐसी किसी घटना की दुहाई देने लगता है जिस पर उसका वस नहीं था। हार मान लेना उसे बड़ा खलता है, अपमान जनक मालूम होता है। इसी लिए वह सदा अपनी ही शक्तियों पर पूरा भरोसा रख कर चलता है और मानता है कि वे शक्तियाँ असीम हैं। ऐसा मन अपने को अज्ञात के हाथों कैसे सौंप सकेगा? वह अपने धर्मों पूरे विश्वास के साथ सुरक्षित होने का प्रयत्न करता है, लेकिन बड़े परिश्रम से खड़ी की हुई उसकी सुरक्षात्मक दीवारें बार-बार ढह जाती हैं। जीवन की प्रचण्ड लहरों की टकराहट से उन दीवारों की नींव में पानी घुस जाता है, दीवारें जर्जर और दुर्बल हो जाती हैं। सुरक्षा प्राप्ति के लिए मन का सारा प्रयास विफल और निराशापूर्ण सिद्ध होता है। वास्तव में मनुष्य के लिए सुरक्षा का एक ही स्थान है और वह है 'अज्ञात' की शरण जाना। मनुष्य जब अज्ञात की शरण जाता है तब वह उसकी स्वयं रक्षा करता है, उसका ध्यान रखता है और उसे पूर्ण सुरक्षा देता है। यह पूर्ण सुरक्षा और कोई नहीं बल्कि 'अज्ञात' ही

दे सकता है। ईसा का एक वचन है—'जब तक मनुष्य तेरी शरण न आ जाय, तब तक उसे चैन नहीं पड़ना चाहिए।' ज्ञात जगत् में मनुष्य को कभी शान्ति नहीं मिलती, उसे शान्ति के लिए अज्ञात की ही शरण जाना होगा, क्योंकि वहाँ, बल्कि वहीं, वास्तविक सुरक्षा है।

इसी अज्ञात की शरण जाने के विचार में से भक्ति का मध्य तत्व प्रादुर्भूत होता है। भक्ति की सार्थकता अज्ञात की शरण जाने में हीहै; क्योंकि ज्ञात की भक्ति कभी अहैतुक हो नहीं सकती। वाध्यता और भक्ति दोनों भिन्न है। वाध्यता ज्ञात वस्तु के प्रति होती है, परन्तु भक्ति केवल अज्ञात के प्रति ही हो सकती है। भक्ति में नम्रता की भावना गृहीत है यह नम्रता केवल व्यवहारगत सदाचार नहीं, बल्कि जीवन की सर्वांगीण अवस्था-विशेष है। यह नम्रता तभी आ सकती है जब मन को मालूम हो जाय कि उसके अपने सारे प्रयास व्यर्थ हैं। जब मन को उस की मर्यादाओं का भान हो जाय। मर्यादायों को जानना एक बात है, उसका भान होना बिलकुल दूसरी बात है जानने का अर्थ है शाब्दिक व्याख्या करना, एक नाम दे देना; इसलिए यह जानना भी मन के ज्ञान की कोटि मे आता है मन की चिन्तन प्रक्रिया का ही एक परिणाम है। मन की गठरी में यह एक नयी कमाई और दाखिल होती है, मन का जो विश्वास और भरोसे का पुराना भन्डार था उसी की अभिवृद्धि करने वाली एक नयी कमाई है। इसीलिये मर्यादाओं को जान लेने से ही नम्रता नही आ जाती' उसके लिए अन्दर से उन मर्यादाओं का भान होना चाहिए, उन मर्यादाओं के प्रति सजगता होनी चाहिए। मन को जब केवल मर्यादाओं की जानकारी होती है, तब वह उनको किसी न किसी दूसरी सफलता की आड़ में छिपाने का प्रयत्न करता है, परन्तु मर्यादाओं का भान हो जाने पर मन उस का न खण्डन करेगा, न मण्डन, बल्कि जो स्थिति जैसी 'है' वैसे ही स्वीकार करेगा। इस प्रकार जो मन अपनी मर्यादाओं के प्रति सजग है, जिसे मर्यादाओं का भान है, वही अज्ञात को शरण जाने योग्य है। और जो मन इस प्रकार अज्ञात को शरण जाता है, वही धर्मनिष्ठ मन है, 'धर्मात्मा' है, जिस में भक्ति की दिव्य सुगन्धि भरी रहती है।

वास्तविक भक्ति में विषय और विषयी का भेद लुप्त हो जाता है। वहाँ उपासक और उपास्य का द्वैत समाप्त हो जाता है; केवल भक्ति ही रहती है। ऐसी भक्ति में पूजा द्रव्य का, उसके स्वरूप का और उसके परिमाण का कोई

महत्व नहीं रह जाता। अज्ञात की पूजा का द्रव्य अत्यल्प हो सकता है, अत्यन्त साधारण हो सकता है, फिर भी वह उस अज्ञात को स्वीकार्य होता है। भोग्य होता है केवल शर्त यह है कि उस पूजा में पूज्य और पूजक दोनों नाम शेष हो गए हों, शून्य हो गये हों। वस्तुस्थित यह है कि जब तक भक्त बना हुआ है, तब तक भगवान् भी बना रहता है, क्योंकि भगवान् भक्त कीभावसृष्टि ही तो है। भक्त के मन का एक प्रदर्पण है, उस की अपनी भावना है। इसलिए वह भीज्ञात कोटि में आता है। भक्त अपने भगवान की जो उपासना कर रहा है वह निश्चित ही मन के द्वारा की जानेवाली ज्ञात की उपासना है और यह भी निश्चित है कि ज्ञात वस्तु की जब उपासना होती है तब वह सहेतुक हो होती है, स्वार्थ-मूलक ही होती है। ऐसी उपासना में शरणागति का स्थूल अनुष्ठान भले ही हो जाय, परन्तु उसका तत्त्व नहीं रहता है। ऐसी अनुष्ठान प्रधान उपासना में पूजा द्रव्य के आकार-प्रकार का ही महत्व अधिक होता है, क्योंकि अनुष्ठानमात्र प्रदर्शन प्रधान होता है।

परन्तु जिस उपासना में उपास्य और उपासक दोनों लुप्त हो गये हैं, उस में पूजा सामग्री का अर्पण अज्ञात के प्रति होता है। जिस चित्त को अपनी मर्यादाओं का भान हो गया है, वह सदा विनम्र रहता है, उसके पास अर्पण करने को कोई बड़ी वस्तु होती ही नहीं' जो होगा वह केवल भाव होगा जिसे वह अर्पण कर सकेगा। अत्यल्प वस्तु के निवेदन में भी वह लज्जित नहीं होता है। गीता कहती है :

> पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति
> तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।
> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।

—'मुझमें श्रद्धा और प्रेम रखते हुए जो व्यक्ति पत्र, पुष्प, जल—कुछ भी चढ़ायें,चूँकि वह शुद्ध बुद्धि (पायस गिल) से अर्पित है, इसलिए उसे मैं स्वीकार करता हूँ। तुम जो भी करोगे, खाओगे, यज्ञ करोगे, दान करोगे, तप करोगे, स्तुति या उपवास करोगे—वह सब, हे कौन्तेय मुझे अर्पण कर दो।'

एक पत्ता, एक फूल या अंजलि भर जल समर्पित करने के लिए साहस चाहिए। खोखला और आडम्बर दिखनेवाला मन अपने पूजा द्रव्यों को बड़ी

ठाट दिखाना चाहता है। द्रव्यों का प्रदर्शन क्या वह तो अपना ही प्रदर्शन करता है। भक्त ज्ञात का स्वभाव जानता है, इसलिए ऐसे द्रव्य को वह अर्पण करता है, जो उसके ख्याल में, अज्ञात को प्रसन्न करनेवाला होता है। परन्तु अज्ञात तो निर्गुण है, तब वह यह चुनाव कैसे करे कि उसे यही दें, और यह न दें? जहाँ तक अज्ञात को समर्पण करने की बात है, यही सम्भव है कि भक्त के पास जो कुछ है, वह जैसा है वही और वैसे ही अर्पित किया जाय। इसीलिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि तुम शुद्ध भावना के साथ जो भी अर्पण करोगे वह मुझे स्वीकार्य है। शुद्ध-बुद्धिवाला मनुष्य हेतु रहित होता है। जो शुद्ध-बुद्धि-वाला होगा वह कुछ अर्पण कर सकता है तो केवल प्रेममात्र कर सकता है, क्योंकि प्रेम को प्रतिदान की आकांक्षा नहीं होती। प्रेम अपने आप में संतृप्त है, स्व-सन्तुष्ट है। उसे अपनी तृप्ति और अपने सन्तोष के लिए किसी दूसरी वस्तु की तलाश में नहीं जाना पड़ता। श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि शुद्ध बुद्धि से युक्त अर्पणमय जीवन जीना विशुद्ध भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति से सम्पन्न पुरुष निर्भय होता है, वह सुरक्षा नहीं खोजता अपनी असुरक्षा में ही सर्वथा आश्वस्त रहता है। सुरक्षा खोजनेवाला ही जब शून्य हो गया तब सुरक्षा की खोज कहाँ रहेगी? जब मन मुक्त हो गया, तब सुरक्षा की तलाश अपने आप समाप्त हो जाती है। अत्यन्त साहस और पराक्रम के साथ जब वह अज्ञात-विषयक नितनवीन अन्वेषणों और अनुसन्धानों में तत्पर होगा, तब उस मन में सुरक्षा का विचार भी कैसे आवेगा? आश्वासन तो वह खोजता है जो कर्म-बन्धनों के प्रति चिन्तित है। लेकिन जिस व्यक्ति ने अज्ञात के हाथों स्वयं को समर्पित कर दिया है, उसके लिए कर्म-बन्धन जैसी वस्तु रह ही नहीं जाती। अर्जुन से श्री कृष्ण कहते हैं:

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे-कर्म बन्धनैः।

—'इस प्रकार से तुम शुभाशुभात्मक परिणामों से, जो कि कर्म-बन्धन हैं, छूट जाओगे।' शुभाशुभात्मक कर्म परिणामों से मुक्त रहना अनासक्ति का लक्षण है। जब तक मन में कर्मफल के विषय में शुभ और अशुभ का भेदभाव बना रहता है, तब तक उसकी द्वन्द्व-पराधीनता नष्ट नहीं होती। कर्मफल जो जैसा है उसे वैसा ही ग्रहण करना, किसी को न शुभ कहना और न अशुभ, यही वास्तविक भक्ति की स्थिति है। और ऐसी भक्ति जिस में हो वही व्यक्ति

अज्ञात को अपना या अपने पास जो भी है उसी का अर्पण कर सकेगा। अज्ञात से तादात्म्य एक ऐसी अद्भुत शक्ति है जो मनुष्य में आमूल परिवर्तन कर सकती है। गीता कहती है:

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभक्ति से मुझे भजता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि वह सुनिश्चयी है।'

गीता के अनुसार वही व्यक्ति साधु या धर्मात्मा है जो सुनिश्चयी है सम्यक् व्यवहित है! इस सुनिश्चय का अर्थ क्या है? सुनिश्चय और शुद्ध बुद्धि दोनों एक ही हैं। शुद्ध बुद्धि में मन के भावात्मक और अभावात्मक दोनों स्वरूप साथ-साथ रहते हैं। 'शुद्ध बुद्धि' शब्द में बुद्धि भावात्मक प्रवृत्ति का सूचक है, तो शुद्धि परम अभावात्मक स्थिति की दर्शक है। आखिर किसी वस्तु में अशुद्धि कैसे आती है? हम देखते हैं कि किसी वस्तु पर दूसरा कुछ चिपक जाता है, तो वह अशुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार मन से जब कोई वस्तु चिपकती है तो मन अशुद्ध हो जाता है। इसलिए वही मन शुद्ध होता है जो हर प्रकार की आसक्ति से मुक्त है। और उस मन की गति को ही शुद्ध बुद्धि या सुनिश्चय कहा जाता है। परम आभावात्मक स्थिति तो हर क्षण रहने वाली है, अखण्ड अनुस्यूत रहने वाली है, यानी वह कालाधीन नहीं है। क्योंकि वह अभावात्मकता ज्यों ही कालाधीन हुई, कालगत हुई त्यों ही वह क्षण अशुद्ध हो जाता है। अभावात्मकता या शून्यावस्था का क्षण इतना सूक्ष्म है कि मनुष्य के चित्त को वह अपना केन्द्र बना लेता है। वह केन्द्र धीरे-धीरे शक्ति संचित करता है और अपना ही एक शरीर गढ़ लेता है जो अत्यन्त प्राणवान और गतिशील होता है। गीता कहती है कि 'परम पापी भी यदि सुनिश्चयी हो जाता है तो उसे साधु मानना चाहिए।' यद्यपि भावात्मक और अभावात्मक स्थितियों का सह अस्तित्व चित्त में क्षणार्ध के लिए ही क्यों न होता हो, फिर भी वह अर्ध क्षण भी अद्भुत सामर्थ्य सम्पन्न होता है, उस में अनन्त सम्भावनायें निहित हैं। जिस के चित को इस स्थिति का मुहूर्त मात्र भी स्पर्श होता हो, वह सुनिश्चयी-सम्यक् व्यवहित—कहा जायेगा। उस की चित्तभूमि में से अध्यात्मजीवन का बीज अंकुरित होगा।

सम्भव है, उस बीज को शक्तिसम्पन्न बनने में और सजीव शरीर की सृष्टि करने में समय लगे, फिर भी उस क्षण से उस की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। चेतना जाग उठी, तो रूप अपने आप साकार हो कर रहेगा। चेतना की प्रेरणा ही ऐसी है। गीता आगे कहती है :

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत् शान्तिं निगच्छति ।

—'वह त्वरित ही धर्मात्मा बनता है और शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है।'

अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी जब सुनिश्चयी होता है तो वह धर्मात्मा बन जाता है। गीता कह रही है कि वह परिवर्तन क्षिप्र होता है, त्वरित होता है। क्योंकि जो नयी चेतना जगी है वह उस व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व में इस कदर व्याप्त हो जाती है कि उस का सारा व्यवहार एकदम बदल जाता है। अमुक प्रकार के बाहरी आचार-व्यवहार को देख कर हो निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह धर्मात्मा है। महत्व तो उस व्यवहार के पीछे निहित भाव का है। वह सद्भाव उस सुनिश्चय के क्षण में ही उदित हो सकता है जिस क्षण में मन अविचल हो जाता है, उस परम शून्यावस्था का अनुभव करता है। सुनिश्चय की अवस्था। ऐसी है जिसमें सूक्ष्म अनुभूति ही रहती है स्थूल विवेचन नहीं। शुद्ध भाव अपना आकार तुरन्त घड़ लेता है। यही अध्यात्म-जीवन का अद्भुत चमत्कार है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव पुण्यात्माओं ने भी किया है, पापियों ने भी किया है : शर्त केवल यही है कि बुद्धि शुद्ध हो।

श्री कृष्ण ने अर्जुन से परम रहस्य को स्पष्ट समझाने की बात की थी, वह अब भी रहस्य ही रह गया है। वास्तव में वह वस्तु ही ऐसी है कि एक दूसरे को दे नहीं सकता। वह तो स्वयं खोज लेने की वस्तु है और वह खोज भी तभी हो सकेगी जब मनुष्य अज्ञात, अव्यक्त के हाथों अपना पूर्ण समर्पण कर देगा। गीता अगले अध्यायों में भक्ति के इसी पूर्ण समर्पण के तत्त्व का विवेचन करनेवाली है।

दशम् अध्याय

विभूतियों की विभूतिमत्ता

श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेशों में भगवद्गीता का दसवाँ और ग्यारहवाँ अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है इन अध्यायों मे क्रमशः परमेश्वर के सार्वभौम स्वरूप और विराट् रूप का वर्णन है। गीता में इन अध्यायों को 'विभूतियोग' और 'विश्वरूपदर्शनयोग' नाम दिये गये हैं। दसवें अध्याय में परमेश्वर की विभूतियों और महिमाओं का वर्णन किया गया है। वह सत्यस्वरूप है। सत्य सर्वत्र आगोचर रूप में विद्यमान है। वही वस्तुमात्र का प्राण है। अव्यक्त के अदृश्य स्पर्श के कारण व्यक्त प्राणवान् है। गीता ने अव्यक्त को परम सत्य कह कर, ब्रह्म कह कर उस का गौरव किया है, उसका सर्वाधिक महत्व प्रतिपादित किया है और यह भी कहा है कि यह सारी व्यक्त सृष्टि उस अव्यक्त का ही अविर्भाव है उसी का प्रकट रूप है। अव्यक्त के महत्व का ध्यान न रखना गीता के उपदेशों की कुंजी खो देना है। यह सच है कि व्यक्त मे परमेश्वर की भव्य महिमा समायी हुई है, परन्तु ये सब तो प्रकृति के मात्र आवरण हैं, परिधान हैं। अव्यक्त की वास्तविक विभूतिमाला और भव्यता व्यक्त में कभी पूर्णतया प्रकट नहीं हो सकती। दशम अध्याय के अन्तिम श्लोक मे यही बात स्पष्टता से कही गयी है :

> अथवा बहुनैतेन किंज्ञातेन तवार्जुन
> विष्टभ्याहं इदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

—'हे अर्जुन, तुम्हें आखिर यह विस्तार से समझने की आवश्यकता ही क्या है? इस समस्त विश्व मे व्याप्त हो कर मैं ही इसे, अपने केवल एक अंश से, धारण कर रहा हूँ।'

यदि व्यक्त की सारी भव्यता उसका केवल 'एक अंश' है, तो उस अव्यक्त की अपनी महिमा कैसी होगी? उपनिषदों ने ही कहा है–यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह–'वाणी और मन उसे न पा कर लौट आते हैं।' जो नित्य अरूप है उसे मन कैसे ग्रहण करे? श्री कृष्ण अर्जुन को उस अजन्मा

अव्यक्त के वास्तविक स्वरूप को भूलने नहीं देते हैं, बार-बार उस का स्मरण दिलाते हैं और इस अध्याय में भी तीसरे ही श्लोक में कह रहे हैं :

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।

—'जो मुझ अजन्मा अनादि को सकल लोकों का स्वामी समझता है वह मनुष्यों में मोह-रहित है, असम्मूढ है और वह समस्त पापों से मुक्त होता है।'

जो उसे अजन्मा जानता है वही मोह-रहित है। व्यक्त की सारी महत्ता अव्यक्त से प्रकट होती है। अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में श्री कृष्ण अपनी महिमा का वर्णन करते हुए यह भी कहते हैं कि उस अजन्मा को वह न भूले जिस में से यह सारा व्यक्त प्रकट हुआ है। जैसे डा० राधाकृष्णन् कहते हैं-"ज्यों ही हम देखने लगते हैं कि समस्त पदार्थ एक 'परम सत्य' से निष्पन्न हुए हैं तब हम सभी भ्रान्तियों और उलझनों से मुक्त हो जाते हैं।"

व्यक्त सृष्टि की अभिव्यक्ति के साथ अनेक प्रश्न जुड़े हुए हैं जिन का उत्तर व्यक्त में नहीं मिलता। व्यक्त जगत् की स्थिति और गति से उत्पन्न होने वाली सभी समस्याओं का समाधान केवल अव्यक्त में है। गीता कहती है :

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।
अहिंसा समता तुष्टिः तपो दानं यशोऽयशः
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

—'बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, संयम, दुःख, भाव, अभाव भय, अभय, अहिंसा, समत्व, सन्तोष, तपस्या, दान, कीर्ति, अपकीर्ति—ये सब भूतों के विविध भाव हैं जो मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं।'

भय और निर्भयता, यश और अपयश—सब उसी अजन्मा, अव्यक्त से उत्पन्न हुए हैं। क्या अव्यक्त में भय और अपयश भी हो सकते हैं? यदि पाप और अशुभ भी अव्यक्त से ही उत्पन्न हैं, तो फिर मानव पाप से मुक्त होने का प्रयत्न ही क्यों करे? वस्तुस्थिति यह है कि 'अव्यक्त समस्त वस्तुओं का सार है, सब साकार वस्तुओं में प्राणसंचार करनेवाली विशुद्ध शक्ति है। वही शक्ति

उनमें भी संचारित हैं जिन्हें हम अशुभ कहते हैं या शुभ मानते हैं। रेफ्रिजिरेटर में जो विद्युत् काम करती है वही मृत्युदण्ड देने के लिए बनी कुर्सी में भी काम करती है। भावरूप सकल सृष्टि अव्यक्त से ही बनी है। अव्यक्त अपने में न अशुभ है। वह तो विशुद्ध शक्ति है। अजन्मा ही सकल वस्तुओं का सार है —यही इस दशम अध्यायका मूल विषय है। अर्जुन श्रीकृष्ण से व्यक्त में व्याप्त अव्यक्त की महिमा सुनना चाहता है। श्री कृष्ण कहते हैं:

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।

—'हे अर्जुन, सर्व भूतों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूँ। सबका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।'

सर्वभूतों के हृदय में स्थित आत्मा वही शक्ति है जो प्राणियों में प्राणसंचार करती है। व्यक्त सृष्टि के अन्दर जो एक प्रेरकतत्त्व (डायनामिक क्वालिटी) निहित है, प्राणसंचार कराने वाली जो शक्ति है, वह न केवल सृष्टि के समय होती है, बल्कि आदि में, मध्यमें और अन्त में भी होती है ऐसा कोई क्षण नहीं है जिसमें वह 'कालातीत' न रहता हो। अपनी, यानी अजन्मा की अभिव्यक्ति को दर्शाने के लिए सृष्टि में से कुछ सर्वोत्कृष्ट और विख्यात वस्तुओं का निर्देश करते हुए श्रीकृष्ण दिखा रहे हैं कि 'अव्यक्त' ही वस्तुमात्र का सार है वे कह रहे हैं—'मैं देवों में विष्णु हूँ, ज्योतियों में अंशुमान् सूर्य हूँ, वेदों में सामवेद हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ, वाणी में एकाक्षरी ओंकार हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ हूँ, स्थावरों में हिमालय हूँ' आदि। यहाँ श्रीकृष्ण ने सृष्टि जगत् के अन्तर्गत विभिन्न कोटि के उत्कृष्ट पदार्थों को चुन कर अपने प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। जैसे, स्थावरों में हिमालय मैं हूँ, कह कर भगवान् यह दिखाना चाहते हैं कि 'स्थावरत्व' का प्रमुख सार वे स्वयं हैं। इस अध्याय में श्रीकृष्ण जो कह रहे हैं उससे सहज ही प्लेटो के 'दिव्य विचारों, का स्मरण होने लगता है। प्लेटो ने कहा था कि प्रत्येक कुर्सी में एक कुर्सीपन होता है जो सभी कुर्सियों को—जो हो चुकी हैं, जो हैं और जो होनेवाली हैं, सबको—जन्म देता है। सभी व्यक्त कुर्सियों में उस कुर्सीपन का मूल तत्व रहता है और जैसे कुर्सी में विकास होता जायेगा वैसे-वैसे वह मूल तत्व का अंश अधिकाधिक बढ़ता जायेगा। श्रीकृष्ण जो कह रहे हैं कि मैं स्थावरों में हिमालय हूँ, उसका आशय भी यही है कि

हिमालय स्थावरत्व का प्रतिनिधि हैं और संसार में जितने भी स्थावर पदार्थ हैं वे सब स्थावरत्व का अधिकाधिक सादृश्य प्राप्त करने की दिशा में हैं जिसका कि हिमालय प्रतीक है। श्रीकृष्ण का यह कथन बड़ा ही विलक्षण है कि 'समस्त यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ।' प्रायः लोग जप को सब से अधिक सरल मानते हैं, सर्वसुलभ साधन जानते हैं। ऐसा इस लिए मानते हैं कि जप का अर्थ कोरा शाब्दिक पुरश्चरण मान लिया गया और जो उसका महत्वपूर्ण अंश है-मौन-उसे दुर्लक्ष्य कर दिया गया। किसी नाम को रटना जप नहीं है। यह सही है कि जप में नाम रटना होता है, किन्तु वह मौन रटन है। यहाँ अभिप्रेत मौन केवल वाचिक मौन नहीं मन का मौन है। इसमें वाणी का मौन उतना प्रमुख नहीं है, जितना मन का मौन है। जपयज्ञ का मूल आधार है मौन मन से नामोच्चारण। निश्चित ही यह सरल नहीं है; बड़ा ही कठिन है। सबको इस बात का अनुभव है कि जब मुँह से नाम स्मरण होता है, तब मन चारों ओर चक्कर काटता रहता है। और नामोच्चारण सर्वथा यान्त्रिक हो जाता है, तथा मन स्वेच्छा से भटकने लगता है, और उसी मार्ग पर चलने लगता है जिसमें विशेष ही विशेष है। नामोच्चारण के चलते मन को विक्षिप्त न होने देना बड़ा कठिन है, दुःसाध्य है। नामोच्चारण तो करें, पर उसे यांत्रिक न होने दें, यह बहुत कठिन है। लेकिन यही जपयज्ञ का हार्द है। इसका अर्थ यही है कि मन की शान्त भूमिका में नामोच्चारण चलना चाहिए अर्थात् नाम-स्मरण की पृष्ठभूमि में मन का मौन होना चाहिए; सुस्थिर, अचंचल मन चाहिए। इसी को नामोच्चारण के साथ सम्पूर्ण अवधान (टोटैलिटी आफ अटेन्शन) कहते हैं।

मन का अवधान तब सरल होता है जब उसके सामने प्रति क्षण नवीन वस्तुएँ आती रहें; तभी मन इधर-उधर दौड़ नहीं पायेगा। लेकिन हम जो जप किया करते हैं वह पुरानी वस्तु का ही करते हैं, नयी का नहीं। हम ने देखा कि यज्ञ का अर्थ है साक्षी रहना। इस लिए जपयज्ञ का वास्तविक अर्थ है अपने चिन्तन के स्वरूपों और हेतुओं के प्रति, अपने नित्य जीवन के सामान्य कार्यकलापों के प्रति साक्षी रहना। हमारा नित्य का जो जीवन क्रम है वह एक जप है, पुनरावर्तन की प्रक्रिया है। इस पुनरावर्तन के बीच भी स्वयं साक्षी बने रहना जपयज्ञ का सारतत्व है। यह बहुत ही कठिन है और श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि 'यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ।'

इससे आगे वे कहते हैं—'पावन करनेवाली वस्तुओं में मैं पवन हूँ' पवनः पवतामस्मि। वायु को पावनकारी बताया। यह कुछ अजीब लगता है। सामान्यतः अग्नि को पावनकारी माना जाता है, वायु को नहीं। तब वायु कैसे पावनकारी है? यहाँ वायु गति का प्रतीक है। हम देखते हैं कि नदी का पानी प्रवाह वेग के कारण शुद्ध होता है। चूँकि पानी नित्य गतिमान् है, सदा प्रवाहित होता रहता है, इसीलिए नदी सदा शुद्ध रहती है। ज्यों ही पानी एक स्थान पर संचित हुआ, त्यों ही वह सड़ने लगता है, अशुद्ध हो जाता है। नदी में कई छोटी-मोटी धाराएँ आ मिलती हैं; सब भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। कुछ स्वच्छ जल की होती हैं, कुछ अस्वच्छ भी होती हैं। नदी में सब समा जाती हैं और प्रवाह की गति के कारण शुद्ध हो जाती हैं। तो, यहाँ शुद्धीकरण का मूल साधन उसका वेग है, उसका संचार है, गति है। शान्त मन स्वच्छ होता है, लेकिन उसे संचित मन समझना नहीं चाहिए। शांत मन में एक गति होती है-वह मन की नहीं, मन में होती है। जो मन जीवन-प्रवाह को रागद्वेषरहित हो कर यथावत् स्वीकार करता है वह सदा शुद्ध रहता है। क्योंकि उस मन में जीवन का प्रवाह अप्रतिहत गति से बहता रहता है। वह मन जीवन नदी के पानी को संचित कर नहीं रखता, उसे सहज गति से बहने देता है। जीवन का यही अबाध प्रवाह मन को स्वच्छ और निर्मल रखता है। इस नित्य-संचार का प्रतीक-रूप वायु निश्चित ही पावन करनेवाली है। सारांश, पावनता का सारतत्त्व गति है।

अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि 'विद्याओं में मैं अध्यात्म-विद्या हूँ': अध्यात्मविद्या विद्यानाम्, इसमें कोई शंका नहीं कि आत्मसम्बन्धी विद्या ही सर्वोत्कृष्ट विद्या है। क्यों कि उसके बिना अन्य सकल विद्याएँ अर्थात् सारे विज्ञान निरर्थक और तुच्छ हो जायें। डा० राधाकृष्णन् कहते हैं: "वह न हो तो विज्ञान की अन्य सभी शाखाएँ पथभ्रष्ट करनेवाली हो जायें।" विज्ञान के सम्बन्ध में सामान्य दृष्टि यही है कि वह प्रकृति तथा मानव के मूल स्वरूप की वस्तुगत अनुसन्धान करनेवाली विद्या है। किसी भी वस्तु के प्रति वस्तुगत दृष्टि प्राप्त करने के लिए दो बातों का ध्यान रखना होता है: एक है इन्द्रियों की तारतम्य शक्ति, और दूसरी, मन की विवेचन शक्ति। यह एक तथ्य है कि इन्द्रियों की सीमित मर्यादाएँ अनुसन्धानशील

वैज्ञानिक को वस्तुओं का वस्तुगत आकलन करने नहीं देतीं। और इसी लिए वैज्ञानिक को सदा इन ऐन्द्रियिक मर्यादाओं से परे जाने का प्रयास करना होता है। और वह इस काम के लिए सूक्ष्मतर भावना प्रधान साधनों को अपनाता है जो इन्द्रियों की पहुँच के बाहर के स्पन्दनों को ग्रहण कर लेने को क्षमता रखते हैं। लेकिन चूँकि इन्द्रियों की मर्यादाओं का अतिक्रमण कुछ सीमा तक ही किया जा सकता है, इस लिए इतने मात्र से उसे जीवन का वस्तुगत दर्शन नहीं हो जाता है। जब तक वैज्ञानिक भौतिक वस्तुओं के शोधन में लगा है, तब तक इन्द्रियों की शक्ति का अन्यान्य उपकरणों की सहायता से विस्तार कर लेना, उन वस्तुओं की वास्तविकता का आकलन करने में सहायक हो सकता है। परन्तु जब वह मनोजगत् में प्रवेश करता है और चित्त शोधन में लगता है तब इन्द्रिय सामर्थ्य के विस्तार का कोई उपयोग नहीं है। बल्कि इन्द्रियों की शक्ति के विस्तार से मन की वह शक्ति मर्यादित हो जाती है जिसमें उस इन्द्रियज्ञान की सार्थकता है। अतः वस्तुओं का वस्तुगत ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय सामर्थ्य बढ़ने की नहीं, मन की सीमा का अतिक्रमण करने की आवश्यकता है। ज्ञान केवल इन्द्रियों और विषयों के संयोग से ही नहीं होता है, मन उसका स्मरण रखेगा और उसे अर्थ प्रदान करेगा तभी होता है। वह जो अर्थ देता है यदि भ्रामक रहा तो ज्ञान भी भ्रान्त और भ्रामक होगा। दूसरे शब्दों में वस्तुगत ज्ञान तब तक असम्भव है जब तक आकलन के परदे पर मन की अपनी वृत्तियों की छाया पड़ती रहेगी। इस लिए वास्तविक विज्ञान वह है जो मन के आत्मलक्षी तत्त्वों की विचारणा करते हुए भी उसके प्रक्षेपणों से, सर्वथा अस्पृष्ट रहता है। यही आत्मा का विज्ञान है, श्रीकृष्ण की भाषा में 'अध्यात्मविद्या' है।

श्रीकृष्ण आगे अपनी सृष्टिगत महिमा का विस्तार समझाते हुए कह रहे, है—धाताहं विश्वतोमुखः—'मैं धारक हूँ, जिसका मुख विश्वाभिमुख है। जो पुरुष अव्यक्त की भूमिका से कर्म आचरण करता है वह विश्वतोमुख होगा ही, क्योंकि उसका मुख दसों दिशाओं की ओर होगा। विश्वाभिमुखता की स्थिति पूर्णतया मुक्त मन की स्थिति है, उन्मनी अवस्था है। जिस मनुष्य का मन पूर्णतः मुक्त है वह जो भी देखेगा उसके सभी पहलुओं को देखेगा, क्योंकि वह सर्वाभिमुख है। वह भिन्न-भिन्न पहलुओं को एक के बाद एक देखता होगा, सो बात नहीं; वह सब पहलुओं को एक-साथ देखेगा। सभी विभिन्न पहलुओं को एक-साथ देखना वास्तविक "सम्यग्दर्शन" (राइट परसेप्शन) है। इसके

लिए मन को असाधारण सजगता की आवश्यकता होती है। परन्तु वह सजगता पूर्ण शून्यता पर, अभावात्मकता पर अधिष्ठित है। यहाँ श्रीकृष्ण मन की परमोच्च-अवस्था का दर्शन करा रहे हैं। यह ऐसे मानव का वर्णन है जो सर्वतोमुख है और जिसका मन बुद्धि की प्रभा से आलोकित है।

आगे श्री कृष्ण फिर कहते हैं :

मृत्युः सर्वहरश्चाहं उद्भवश्च भविष्यताम्।

—'मैं सर्वनाशी मृत्यु हूँ, और भावी का उद्गम हूँ।' अव्यक्त तो निश्चित ही 'सर्वनाशी मृत्यु' है, क्योंकि वह 'परम अज्ञात' है। उसकी गहराई का पता पाना मनुष्य के लिए असम्भव है। उसकी प्रचण्ड विनाशलीला से सारी सृष्टि थर्रा उठती है। लेकिन मृत्यु एक ओर विध्वंसक है तो दूसरी ओर नयी सृष्टि का सृष्टा भी है। वस्तुतः मृत्यु और सृष्टि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ये दोनों साथ-साथ रहती हैं। क्योंकि जो क्षण मृत्यु का है, वही पुनर्स्टृष्टि का भी क्षण है। इसलिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि 'मैं अजन्मा, सर्वनाशी मृत्यु हूँ और भावी का उद्गमस्रोत भी हूँ।' जो भी रूप साकार होता है, उसका पूर्वरूप अव्यक्त के गर्भ में पहले से ही निश्चित हो चुका होता है।

विभूति-विस्तार के सिलसिले में श्रीकृष्ण अपने सम्बन्ध में निम्न श्लोक में बड़ा विलक्षण वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं :

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।

—'छलियों में मैं द्यूतविद्या हूँ, तेजस्वियों का तेज हूँ। विजय हूँ, दृढ़ निश्चय हूँ, और सद्वस्तु का सत्त्व हूँ।'

छल-कपट करनेवालों में द्यूत, और सद्वस्तुओं का सत्त्व—दोनों में बड़ा विरोधाभास प्रतीत होता है। फिर भी यह अनिवार्य है कि जब अव्यक्त की पूर्णता को व्यक्त रूपों में प्रकट करना पड़ता है तो वहाँ भाषा लड़खड़ा जाती है, शाब्दिक विरोधाभास हो ही जाता है। मन के शब्दभण्डार में तो विरोधोंका सह-अस्तित्व नामक शब्द है नहीं; मन तो आनुपूर्व्य या क्रमिकता को ही जानता है, एक ही स्थान में एककालावच्छेदेन दो वस्तुओं के अस्तित्व की वह कल्पना भी नहीं कर सकता। मानव मन तो यही कहता है कि प्रत्येक दो वस्तुओं के बीच अन्तर होना ही चाहिए, चाहे वह कालगत हो या देशगत। काल और देश

ही मन की गति का क्षेत्र है, इन्हें छोड़ कर वह काम कर नहीं सकता और उसमें वह जो भी कुछ देखता है उसे नाम और रूप देता जाता है। इसलिए जब काल और देश लुप्त हो जाते हैं तो किसी वस्तु को मन कैसे ग्रहण कर सकेगा? मन तो द्वन्द्वों के मध्य ही काम कर सकता है। लेकिन जब उसके द्वन्द्वों के दोनों बिन्दु एक हो जाते हैं तब वह उनका नाम-रूपात्मक पृथक्करण कैसे कर पायेगा? यह स्थिति मन के लिए बड़ी दुर्दशा की स्थिति है। परमेश्वर कपटियों का कपट और सद् वस्तुओं का सत्त्व दोनों कैसे हो सकते हैं? यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि भगवान् यह नहीं कह रहे हैं कि वे 'कपट' हैं या 'सत्त्व' हैं; वे कह रहे हैं कि 'मैं कपट करनेवालों में कपट हूँ, 'सद्वस्तुओं में सत्त्व हूँ'। सत्त्ववान् तो जड़ है, अचल है; उसका सत्त्व है जो गतिमान् है, प्रेरणामय (डायनेमिक) है। सत्त्वयुक्त वस्तु नश्वर है, सत्त्व है जो अविनाशी है। सत्त्ववान् सापेक्ष है, सत्त्व है जो निरपेक्ष है। सत्त्व सत्त्ववान् का मूल स्रोत है, जो पहले भी था, अब है और आगे भी रहेगा।

भगवान् कहते हैं कि मैं सत्त्ववानों में सत्त्व हूँ'। यह वर्णन प्लेटो के 'मूल द्रव्य' जैसा है। Archtypes वह मूल द्रव्य हमेशा एक ऐसा केन्द्र बिन्दु होता है जहाँ से सारे वर्तुल बनते हैं और जो सभी वर्तुलों का पूर्वरूप निर्धारित करता है। 'सत्त्व' वैसा ही एक मूल द्रव्य है जो भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालों के सकल सत्त्ववानों के आविर्भाव का मूल स्रोत है। जिस प्रकार सुन्दर में और सौन्दर्य में अन्तर है, उसी प्रकार सत्त्ववान् में और सत्त्व में अंतर है। सुन्दर तो सौन्दर्य की मात्र एक अभिव्यक्ति है। भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी सुन्दर पदार्थ मिलकर भी उस सौन्दर्य को समाप्त नहीं कर सकते जो कि अविकारी है, निरपेक्ष है, विशुद्ध है। कोई भी पदार्थ उसी हद तक सुन्दर होगा, जिस हद तक वह 'सौन्दर्य' के अधिक से अधिक निकट होगा। ज्यों ही पदार्थ उस सौन्दर्य की निकटता की बिन्दु से दूर होगा, त्यों ही सुन्दर सुन्दर नहीं रह जायेगा।

वह मूल द्रव्य व्यक्त सृष्टि में अव्यक्त की एक किरण है। अव्यक्त कभी व्यक्त नहीं होता: जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मियाँ सौरमण्डल के अन्धकार के विनाश के लिए प्रेरित करता है, उसी प्रकार अव्यक्त केवल अपनी किरणें ही प्रेरित करता है। मूल द्रव्य तो वह अव्यक्त का झनकार है जिसे काल में मुखरित होनेवाले व्यक्त के संगीत के लिए वह संकृत करता है।

संगीत प्रारम्भ होने के बाद जितने भी अन्यान्य स्वर उससे आ मिलते हैं, वे उसी हद तक मधुर संगीत निर्माण कर पाते हैं जिस हद तकवे उस मूल झंकार के, उस स्थायी स्वर के संवादी होते हैं। मूल द्रव्य ही अव्यक्त नहीं है। वह तो व्यक्त का ही विशुद्धतम रुप है विशुद्धतम इस लिए कि उस में अव्यक्त का निबिड स्पर्श है। गीता के दशम अध्याय मे वर्णित सभी भगवद्विभूतियाँ वही मूल तत्व हैं, जो काल गति के अनुसार भौतिक तथा अतिभौतिक स्तर के मर्त्य रुपों को जन्म देते हैं।

यद्यपि सत्ववानो के सत्व के रुप में परमेश्वर के अस्तित्व को देखना सरल है, परन्तु कपटियों की द्यूत विद्या के रुप मे देखना बहुत कठिन है। किसी छल-कपट के साथ ईश्वर का सम्बन्ध कैसे मान्य किया जाय? स्मरणीय है कि श्री कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं कि ,मैं द्यूत हूँ', बल्कि वे कह रहे हैं—'मैं कपटियों में द्यूत हूं।' यहाँ उल्लिखित कपटी या छली निश्चित ही उस विद्या के निष्णात हैं। वे पासा फेंकने मे बड़े चतुर हैं, तभी बड़े से बड़ा दाँव जीत लेते हैं। साधारण जुआड़ी मामूली खेल खेलता है परन्तु द्यूतविद्या-विशारद तो पणबन्ध मे इतना पारंगत होता है कि किसी के प्राण भी वह हर ले सकता है। ऊँचा पण लगाने मे ऊँचा साहस और बड़ा पराक्रम चाहिए। इससे बड़े से बड़ा खतरा मोल लेने की हिम्मत प्रकट होती है। कपटकरने वाली में द्यूत हूँ कहने मे श्री कृष्ण का तात्पर्य उसी पराक्रम से है जो जीवन के अन्तर्गत सभी प्रकार के साहसपूर्ण कार्यों और विपत्तियों की चुनौती के पीछे निहित है। इसी द्यूतविद्या में अजन्मा, अव्यक्त से सबसे अधिक निकटता साधनेवाला वही होता है जो अपने जीवन के जुए में ऊँचे से ऊँचा दाँव लगाता है। वह योगी है। योगी के दाँव से बढ़ कर दूसरा कोई दाँव नहीं हो सकता। क्योंकि वह अपने जीवन का जूआ परम सुख के साथ खेलता है और उसमे स्वयं अपने को ही दाँव पर चढ़ा देता है। अपने को ही दाँव चढ़ाने का अर्थ है—पास में जो भी है; स्वयं जैसा कुछ है, उसे ही अर्पण कर देना। योगी एक ऐसा मजा हुआ जुआड़ी है जो कभी हारता ही नहीं। यद्यपि वह सबसे बड़ा पण बाँधता है, लेकिन उसके जीत का लाभ अतुलनीय है। वह दाँव पर चढ़ाता है नश्वर को, लेकिन कमाई कर लेता है अनन्त की। बड़े साहस के साथ, वह हर प्रकार की विपत्ति मोल लेता है, जीवन को

खतरे में डाल देता है, फल स्वरुप आलोक मन जीवन के उत्तुंग शिखरों पर पहुँच जाता है। निस्संदेह परमेश्वर जुआड़ियों का जुआ है, क्योंकि उस के अत्यन्त निकट रहनेवाले योगी और भक्त अपने जीवन का ही जुआ खेलते है और शाश्वत जीवन कमा लेते हैं।

आगे श्री कृष्ण कहते हैं—मौनो चैवास्मि गुह्यानाम : 'गोपनीयों का मौन मैं हूँ।' निस्सन्देह मौन से बढ़ करगुह्यतर दूसरा नहीं है। जो रहस्य संकेतों, इंगितों, हाव- भावों या शब्दों से प्रकट किये जाते हैं वे रहस्य ही नहीं हैं। वे तो प्रतीक-प्रधान या सांकेतिक 'ज्ञान विशेष' ही हैं। भाषा बदल देने से या माध्यम भिन्न हो जाने से ज्ञान रहस्य नहीं बन जाता। संकेतों और इंगितो का आवरण रहस्य का सूचक नहीं होता। सच्चे रहस्य को अपनी रक्षा के लिए, सर्वसामान्य तरीकों से खुल जाने से रोकने के लिए गोपनीयता की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रकृति के रहस्य की रक्षा के लिए जड़ की जरूरत नहीं है। गूढ तत्व ऐसी वस्तु नहीं है जिस पर गोपनीयता का परदा डाला गया हो। वह गूढ तो सबके लिए खुला पड़ा है : फिर भी गिने-चुने ही उसे देख पाते हैं। जीवन का रहस्य बन्द द्वार के अन्दर छिपा नहीं रहता : उसे छिपाने के लिए दीवार नहीं चाहिए। वास्तविक रहस्य तो दूसरो को बताया नहीं जा सकता—चाहे संकेत का सहारा ले या प्रतीकों से काम लें। रहस्य स्वयं खोज लेना होता है। और वह खोज तभी सम्भव होती है जब पूर्ण मौन रहता है। ऐसा मौन कि जिसमें मनुष्य अपनी साँस सुन सके, विचारो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन तक को सुन सके : ऐसे मौन में, बल्कि ऐसे ही मौन में वह रहस्य खोजा जा सकता है। अजन्मा चिर मौन है : इस लिए अजन्मा ही है जिस के गर्भ में जीवन और मृत्यु का रहस्य पड़ा हुआ है।

विभूति-वर्णन का उपसंहार करते हुए अन्त में श्री कृष्ण कहते हैं :

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतिनां परन्तप
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।

'हे परन्तप, मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। मैंने जितना कहा है, वह अपने अनन्त विस्तार के मात्र कुछ उदाहरण हैं।'

केन्द्रबिन्दु का अन्त कहाँ आ सकता है? लाखों–करोड़ों वर्तुल खिंच चुके हों, तब भी उस केन्द्र पर और भी करोड़ों वर्तुल बनाये जा सकते हैं। वह

अव्यक्त व्यक्त सृष्टि का अखूट भण्डार, अक्षयस्रोत है। अव्यक्त की महिमा का पूर्ण वर्णन कैसे हो सकता है? अव्यक्त के सम्बन्ध में किसी कवि के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि—"मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि अपने जन्म के क्षण से ही तेरे मुख का सौन्दर्य मैं निहारता रहा हूँ ; फिर भी मेरी आँखों की प्यास अभी भी नहीं मिटी है।"

मनुष्य यदि व्यक्त सृष्टि के चेहरे पर अव्यक्त का संकेत देख सकता है, तो वह सचमुच अलौकिक आनन्द और चिर सुख की अवस्था में जी सकता है। अव्यक्त से तादात्म्य पा लेने पर मनुष्य उस घटघटवासी आदि-बीज से एकरूपता साध लेता है। क्या बीज में सम्पूर्ण वृक्ष समाया हुआ नहीं है? वस्तुमात्र की मूल स्थिति (बीइंग) से एकरूपता साधने का अर्थ है प्राप्य स्थिति (बिकमिंग) का रहस्य जान लेना। क्योंकि 'प्राप्ति' मात्र 'स्थिति' में निहित है, 'बनना' 'होने' के अधीन है। मनुष्य वही बन सकता है जो वह 'है'। श्री कृष्ण कहते हैं :

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्

—"हे अर्जुन, समस्त भूतों का जो बीज है वह मैं हूँ ; चराचर जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है जो मेरे बिना रहता हो।"

यहाँ श्री कृष्ण 'मुझे' से भूतों का भेद दर्शा रहे हैं। 'मुझे' समस्त भूतों का मूल है, परन्तु वह स्वयं भूतत्त्व से परे है, अ-भावस्वरूप है। यह अ-भावस्वरूप ही भूतों का स्रष्टा है। सभी कुछ शून्य में से अस्तित्व पाते हैं। उप-निषदों में एक प्रसंग आता है। पुत्र अपने पिता से जीवन का रहस्य जानना चाहता है। पिता पास के वृक्ष के नीचे पड़ा एक फल ले आने को पुत्र से कहता है पुत्र फल लाता है। पिता कहता है कि फल को तोड़ो और बताओ उसके अन्दर क्या देखते हो। पुत्र देखता है और उस में असंख्य बीज दिखाई देते हैं। पिता उन बीजों में से एक को तोड़ने के लिए कहता है। पुत्र तोड़ता है। पिता पूछता है कि उसके अन्दर क्या दिखता है? तो पुत्र कहता है "कुछ नहीं"। तब पिता समझाता है कि वह जो 'कुछ नहीं' है, उसी से इतना विशाल वृक्ष उत्पन्न होता है। अ-भाव ही सब भावों का,-सब भूतों का-क्षेत्र है ; शून्य ही सब वस्तुओं का मूल स्रोत है—यही गीता समझा रही है। भाव पदार्थों का रहस्य अ-भाव में खोजना है। ब्रह्म भावरूप नहीं है। मनुष्य जब सभी

भौतिक और अतिभौतिक पदार्थों को लांघ जाता है, तज देता है, तभी उस न-भावरूप ब्रह्म से तदात्मता प्राप्त कर सकता है।

परमेश्वर की विभूतियाँ यदि मूल द्रव्य (Archtypes) हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या उन का यहीं और अभी साक्षात्कार हो सकता है? या उस के लिए विशिष्ट अन्तःशक्ति प्राप्त करनी होगी? मूल द्रव्य की झलक यहीं और अभी दृष्टिगोचर हो सकती है, क्योंकि सभी व्यक्त पदार्थों में वह विद्यमान है। उसका अस्तित्व पहचानने के लिए प्रत्येक वस्तु में निहित अतीन्द्रिय अमूर्त ईश्वर-सादृश्य का बिन्दु खोज लेना होगा। सभी वस्तुओं में एक सौन्दर्य होता है। परन्तु उसे देखने का एक विशेष कोण होता है जहाँ से प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति का सौन्दर्य अनुभव किया जा सकता है। उस कोण को खोज लिया कि उस सादृश्य बिन्दु को जान लिया। यही वह अतीन्द्रिय तत्त्व है जो इन्द्रियगम्य समस्त पदार्थों में विद्यमान है। चित्तसाम्य हो, तो ही वह कोण पहचाना जा सकता है, क्योंकि परमेश्वर के ऐश्वर्य की महिमा और सौन्दर्य का दर्शन योगियों के कारुण्यमय चित्तसाम्य में ही हो सकता है।

—। ० ।—

एकादश अध्याय

चैतसिक और आध्यात्मिक

भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में परमेश्वर के अद्भुत रूप का भव्य वर्णन है। इसमें भगवान् ने अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाया है। सृष्टि के कण-कण में व्याप्त भगवत्महिमा का वर्णन दसवें अध्याय में है, तो इस अध्याय में भौतिक और अतिभौतिक सीमा को पार करनेवाली उसकी विशालता का दर्शन है। व्यक्त की विभूतिमत्ता अतीन्द्रिय है और अतीन्द्रिय का साक्षात्कार करने के लिए बुद्धि और हृदय की संवेदनशीलता आवश्यक है। उसके लिए भौतिक शक्ति नहीं चाहिए। वह अतीन्द्रिय इसी स्थल में और इसी क्षण में विद्यमान है; उसे खोजने के लिए कहीं और जाना नहीं है। अतीन्द्रिय-दर्शन के मार्ग सभी युगों में सभी देशों में योगियों ने बताये हैं। इससे भिन्न एक दूसरा दर्शन है जिसका सम्बन्ध गूढ़विद्या से है। इसमें अतीन्द्रिय का नहीं, अगोचर का विचार है। वास्तव में दर्शन के तीन अंग हैं : दृश्य (परसीवेबल) (अनपरसीएबुल) और अदृश्य। (अनपरसीव्ड) दृश्य वह है जो इन्द्रिय गोचर है; अदृष्ट वह जिसके लिए इन्द्रियों की असामान्य सामर्थ्य की आवश्यकता होती है; और अदृश्य वह जिसका दर्शन किया जा सकता है परन्तु हमारी बुद्धि और हृदय की ग्रहणशीलता की कमी के कारण हम उन्हें नहीं देख पाते पहला उस श्रेणी का है जो साधारण ज्ञान का विषय है; दूसरा विज्ञान-गम्य है—चाहे वह विज्ञान भौतिक हो या अतिभौतिक; और तीसरा आत्मविद्या का विषय है। स्मरण रहे कि वैज्ञानिक पद्धति से अतिभौतिक क्षेत्र के शोधन का नाम गूढ़विद्या है। गूढ़विद्या अगोचर के साक्षात्कार का प्रयत्न करती है, जिस प्रकार आत्मविद्या अतीन्द्रिय का करती है। अतीन्द्रिय-साक्षात्कार के लिए चित्त की गहराई आवश्यक है जब कि अगोचर के ज्ञान के लिए चित्त के विस्तार की आवश्यकता है।

इस अध्याय में श्री कृष्ण अर्जुन को अपने उन्हीं अगोचर रूपों के दर्शन करा रहे हैं। अर्जुन पूछता है :

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥

—'हे परमेश्वर, आप ने अपने सम्बन्ध में जो कुछ वर्णन किया, उस ईश्वरीयरूप को हे पुरुषोत्तम, मैं देखना चाहता हूँ।'

अर्जुन भगवान् का ईश्वरीयरूप देखना चाहता है। विभूतियों की चर्चा के समय हमने देखा कि व्यक्त साकार में निराकार के संकेत अतीन्द्रिय तत्व के द्वारा कैसे प्राप्त होते हैं। परन्तु यहाँ अर्जुन परमेश्वर के रूप की विशालता को विराट स्वरूप को देखना चाहता है। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में—"अर्जुन विराट रूप को, अ-दृष्ट (अनसीन) परमेश्वर के दृश्य, (विजिबुल) स्वरूप को देखना चाहता है।" उसने 'दृष्ट' सीन का रहस्य जान लिया, अब वह 'अदृष्ट' (अनसीन) का विस्तार देखना चाहता है। इस अध्याय में उसी अदृष्ट (अनसीन की चर्चा है। अर्जुन के प्रश्न को उत्तर मे श्री कृष्ण कहते हैं।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।

—हे पार्थ, मेरे उन सैकड़ों-हजारों विविध रूपों को देखो, जो दिव्य हैं, नानावर्णों और आकृतियों से युक्त हैं।'

यहाँ व्यक्त रूप में अव्यक्त विभूति को देखने की बात नहीं है, रूप के नाना वर्णों को, आकृतियों को और विविधताओं को देखने की बात है। दशम अध्याय में हम ने देखा कि किस प्रकार अनेक में एक अतीन्द्रिय तत्व के रूप में विद्यमान है जो यद्यपि वास्तव में गूढ़ है फिर भी वह है। किन्तु इस एकादश अध्याय में अनेक में एक का नहीं, एक में सबका दर्शन कराया जा रहा है। सब में एक को देखने के लिए कालातीत क्षण के साथ एकरूप होने की आवश्यकता थी, किन्तु एक में सब को देखने के लिए काल और देश के अनन्त विस्तार और असीम विशालता को टटोलना होगा। सब में एक को देखना यानी काल-देश के अनन्त विस्तार का काल-देशातीत एक बिन्दु में समा जाना था, तो, एक में सब को देखना यानी एक का काल-देश के असीम विशालता में फैल जाना है। कालातीत क्षण के दर्शन के लिए मन को सीमाओं को पार करना आवश्यक था, क्योंकि मन ही काल का स्रष्टा है; परन्तु काल और देश के अनन्त विस्तार

को खोजने के लिए इन्द्रिय-सामर्थ्य को असाधारण सीमा तक बढ़ाने की आवश्यकता है। इसीलिए श्री कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं :

> न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा
> दिव्यं ददामि ते चक्षुः।

—'तुम अपने इन नेत्रों से मुझे नहीं देख सकते ; मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ।

अगोचर, अदृष्ट रूप देखने के लिए दिव्य चक्षु प्रदान करना' श्रीकृष्ण ने आवश्यक माना इस ग्यारहवें अध्याय में श्री कृष्ण जो दर्शन करा रहे हैं वह वह आध्यात्मिक दर्शन नहीं, मात्र अतिभौतिक दर्शन है। ऐसे अतिभौतिक दर्शन में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह भौतिक रूप का ही विस्तार होता है। यही वर्णन संजय निम्न शब्दों में करा रहा है :

> अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
> अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।
> दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता
> यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।

—उसके अनेक मुख थे, अनेक नयन थे, अनेक प्रकार के अद्भुत रूप थे, अनेक दिव्य आभूषण थे, अनेक दिव्य आयुध उद्यत थे।

'आकाश में यदि हजारों सूर्य एकसाथ उदित हों तो जो प्रकाश होगा उसी प्रकार का प्रकाश उस महात्मा का था।'

इस वर्णन में हम स्पष्ट ही देख रहे हैं कि मुख अनेक हैं, नयन अनेक हैं, यानी इसमें भौतिक रूपों का विस्तार है। पुरुषसूक्त में भी उस पुरुष का वर्णन सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपाद आदि विशेषणों से ही किया है। जब भी स्वरूप-विस्तार का वर्णन आता है, तब वह संख्या प्रधान होता है। हमने पहले देखा, गूढविद्या अतिभौतिक क्षेत्र में वैज्ञानिक सूक्ष्म निरीक्षण का ही नाम है। विज्ञान की प्रक्रिया हमेशा अंशगत होती है, क्योंकि किसी भी वस्तु या घटना को समझने के लिए विज्ञान उसके अंगों और उपांगों को अलग-अलग करके उनका विश्लेषण किया करता है। इसलिए यह निश्चित है कि विज्ञान चाहे भौतिक हो या अतिभौतिक, वह आकार प्रधान होता है। निम्न श्लोक में जिसमें संजय अर्जुन के दर्शन का वर्णन कर रहा है, यही बात स्पष्ट की गयी है।

सर्वेनस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।

—'तब अर्जुन ने देवाधिदेव के शरीर में सकल जगत् को एकत्र और अनेक अंशों में विभक्त देखा ।'

जगत् को अनेक अंशों में विभाजित करना और फिर सबको एक में मिला कर देखना-यही तो वैज्ञानिक लोग भौतिक क्षेत्र मे करते हैं । वे पदार्थों के अंगों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करते हैं और फिर उन सबमें साम्य खोज कर सबको एक करते हैं । अर्जुन ने यहाँ जो कृत्स्न जगत् देखा वह अनेक भिन्न-भिन्न अंशों का संकलन था । अर्जुन को दिव्यचक्षु देकर जो दृश्य भगवान् ने दिखाया, वह ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण ने अपने शिष्य के समाधान के लिए अपने गूढ़ और अगोचर स्वरूप को अनावृत कर दिखाया । अर्जुन कहता है ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

—'मैं आप को सर्वत्र देख रहा हूँ, जिनके अनेक बाहु हैं, अनेक उदर हैं, अनेक मुख हैं, अनेक नेत्र हैं और अनेक रूप हैं ।'

इस दर्शन से अर्जुन को इसी बात का आश्चर्य होता है कि भगवान् के रूप अनन्त हैं । भौतिक स्थूल रूपों की तुलना में इन रूपों की भिन्नता गुणगत नहीं है, संख्यागत है । गुप्तविद्या की कोटि के अगोचरसम्बन्धी विज्ञान मे अध्ययन के मुख्य विषय अगोचर तत्त्व के आकार और उसके अंगोपांग ही हैं । इस अध्ययन के लिए मनुष्य को अपनी चैतसिक शक्तियों का उपयोग करना पड़ता है, क्योंकि अगोचर तत्त्व स्थूल इन्द्रियों की पहुँच से परे हैं । इन चैतसिक शक्तियों के बल पर विभिन्न गुप्त तत्त्वों को समझा सकते हैं । इनमे जो चैतसिक शक्ति काम आती है वह भविष्यदर्शन और भविष्यश्रवण से, मनोमिति और मनोगति के संक्रमण से, पूर्वज्ञान और विपरीत ज्ञान की शक्तियों से, भिन्न कोटि की है । अब इस ग्यारहवें अध्याय में जिन गूढ़ तत्त्वों का विचार किया गया है और जिन्हें देखने के लिए भगवान् ने अर्जुन को दिव्यचक्षु प्रदान किये हैं उसमे इनमे से एक बात पर विशेष बल दिया गया है और वह है पूर्वज्ञान (प्रीकाग्निशन) । स्मरण रहे कि भगवद्गीता का उपदेश कुरुक्षेत्र के युद्ध की पृष्ठभूमि मे किया गया है । युद्ध के मैदान में अर्जुन ने शस्त्रत्याग कर दिया है और श्री कृष्ण उसे युद्धप्रवृत्त कर

रहे हैं। इस अध्याय में भगवान् अर्जुन को वही दृश्य दिखा रहे हैं जो आगे होनेवाला है। वह दिखा कर वे उसे युद्ध में प्रवृत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। निम्न श्लोकों में युद्ध के भावी दृश्यों का वर्णन अर्जुन के शब्दों में इस प्रकार किया है :

> अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः
> भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।
> वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि
> केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।

—'ये सारे धृतराष्ट्रपुत्र, भीष्म, द्रोण, कर्ण सब अपने साथी राजाओं के साथ और हमारे पक्ष के सेनानियों के भी साथ आपके भयंकर दाढ़ों से युक्त मुख मे भाग-भाग, कर जा गिर रहे हैं; कुछ लोग आपके दान्तों मे आकर सिर से कुचले जा रहे हैं।'

> यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति
> तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।
> यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः
> तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।

—'जिस प्रकार सारी नदियाँ प्रचण्डवेग से सागर की ओर बह चलती हैं, और सारे पतंग अग्नि की ज्वाला की ओर बढ़ बढ कर उड़ चलते हैं, उसी प्रकार ये सारे नरलोकवीर विनष्ट होने के लिए आप के मुख की ओर अत्यन्त वेग से बढ़े चले जा रहे हैं।'

यह सारा वर्णन देख कर आश्चर्य होता होगा कि परमेश्वर का विराट् रूप इतना भयंकर क्यों है ? वस्तुस्थिति यह है कि श्री कृष्ण जानबूझ कर यह विशिष्ट विध्वंसक रूप दिखा रहे हैं जो प्रस्तुत युद्ध का स्थूल परिणाम साक्षात प्रत्यक्ष होने-वाला है। यह सत्य है कि प्रत्येक भौतिक घटना का पूर्वरूप अभौतिक धरातल में रुपित होता है। क्रोध प्रत्यक्ष प्रकट होने से पूर्व मानसिक धरातल पर उत्पन्न होता है। जो स्थूल रूप में प्रकट होता है वह उस आन्तरिक क्रिया का ही व्यक्त परिणाम है। कुरुक्षेत्र में जो युद्ध हुआ उस का एक अभौतिक प्रतिरूप भी रहा ही है। उस अभौतिक रूप को जो भाँप सकता है, वह भावी स्थूल भौतिक घटना को पूर्वसूचना दे सकता है। जैसे कुशल किसान बादलों

के हलचल को देखकर ही यह बता सकता है कि वर्षा होगी या नहीं, ठीक उसी प्रकार जो अतिभौतिक ज्ञान रखता है, वह मन के आन्तरिक बादलों को मँडराते देख कर भावी घटनावृष्टि की पूर्वसूचना दे सकता है। जिस प्रकार किसान उन बादलों के बारे मे कुछ भी कर नही सकता, उनके आगे पूर्ण विवश होता है, उसी प्रकार अतिभौतिक ज्ञान से युक्त पुरुष भी भावी घटनाओ की मानसिक भावनाओ के बादल के आगे विवश होता है। जब वे बादल मनोंगगन मे एकत्रित होते हैं; तब वह भावी भौतिक घटना की सूचना भर दे सकते हैं। वह कह सकता है कि ये बादल किस प्रकार बरसने वाले हैं। पूर्व ज्ञान की यह सारी प्रक्रिया मानव के चैतसिक ज्ञान विशेष का अंग है। ग्यारहवें अध्याय मे श्री कृष्ण द्वारा प्रदत्त दिव्य चक्षु के कारण अर्जुन को यह पूर्वज्ञान की शक्ति प्राप्त हुई है। इस दिव्यदृष्टि से अर्जुन कुरुक्षेत्र को भावी घटनाओं को अतिभौतिक धरातल पर पहले से देख रहा है। उस के लिए वह दृश्य बड़ा ही भयानक था, क्योंकि आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म आदि सब महारथी मृत्यु के विकराल मुख की ओर भाग रहे हैं।

काल हमेशा सापेक्ष होता है। दृष्टि के भौतिक मानदन्ड मे, (स्केल आफ आब्जर्वेशन) जो भविष्य की वस्तु है, वह दृष्टि के अतिभौतिक मानदण्ड से वर्तमान की तथा अतीत की भी वस्तु हो सकती है। भौतिक धरातल में जो दृष्टि का मानदण्ड है उस मे काल सापेक्षता स्पष्ट भासित होती है। खगोल-विज्ञानवेत्ता कह रहे हैं कि ब्रह्माण्ड में ऐसे भी नक्षत्र विद्यमान है जिनकी आलोक-राशियों को धरती तक आ पहुचने मे लाखो वर्ष लगते हैं। उतनी दूर की न सही, फिर भी हम एक ऐसे नक्षत्र को लें जहाँ से धरती तक प्रकाश के पहुँचने में ५००० वर्ष लगते हों। और मान लीजिए की हम वहाँ पहुँचते हैं। तो हम वहाँ से स्पष्ट देख पायेंगे कि धरती पर, भारत मे अब कुरुक्षेत्र का युद्ध चल रहा है। धरती पर उपलब्ध दृष्टि के मानदण्ड से जो घटना अतीतकाल की है, वही उस नक्षत्र मे उपलब्ध दृष्टि के मानदण्ड से वर्तमान की घटना है। उससे भी बहुत दूर के नक्षत्र में जा कर देखें तो वहाँ कुरुक्षेत्र का युद्ध भविष्य के गर्भ मे पड़ी हुई घटना के रुप मे दिखाई देगा। धरती का कोई मनुष्य उस नक्षत्र मे पहुँच जाय, तो वहाँ वह यहाँ की भावी घटनाओं को बताने वाला भविष्य वक्ता सिद्ध होगा। पूर्वज्ञान का सारा आधार दृष्टि के

मानदण्ड पर है। चैतसिक शक्तियों के बल पर मनुष्य अपनी दृष्टि के मानदण्ड को बदल सकता है। अर्जुन स्वयं वैसा नहीं कर सकता था, इसलिए श्री कृष्ण ने उसे दिव्यचक्षु के रूप में यह शक्ति प्रदान की। इस एकादश अध्याय में अर्जुन जो कुछ वर्णन कर रहा है वह उसने अपने उस नये मानदण्ड से जो प्रत्यक्ष देखा उसी दृश्य का वर्णन है। यह परिवर्तित मानदण्ड श्री कृष्ण के निम्न कथन से स्पष्ट होता है।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।

—,मैं काल हूँ जो लोकक्षय करने के लिए प्रवृद्ध हूँ, इस धरती पर समस्त लोकों का संहार करने को प्रस्तुत हूँ। तुम न हो तो भी युद्ध में सन्नद्ध ये सारे वीर मृत्यु से बचनेवाले नहीं हैं।

'द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य भी जितने वीर योद्धा हैं, वे सब मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं' तुम निर्भय हो कर उनका संहार करो। लड़ो' तुम युद्ध में उन सबको कुचल देने वाले हो।'

श्री कृष्ण कह रहे हैं कि भीष्म, द्रोण, जयद्रथ कर्ण और अन्य सभी राजा उनके हाथों मारे जा चुके हैं फिर भी वे अर्जुन को उनका संहार करने के लिए कह रहे हैं। यदि वे मारे जा चुके हैं तो अर्जुन फिर से उन्हें कैसे मार सकेगा? यहाँ श्री कृष्ण अर्जुन को उसी नयी दृष्टि की बात कह रहे हैं। दृष्टि के उस कोण से ये सारे योद्धा मारे जा चुके हैं। अतिभौतिक स्तर में जो हो चुका है उसका भौतिक स्तर में प्रत्यक्ष होना बाकी है। नैसर्गिक प्रक्रिया में वह घटना निर्विघ्न घटित होनेवाली है। इसलिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि युद्ध में सन्नद्ध ये सारे योद्धा तुम्हारे बिना भी मृत्यु से बचनेवाले नहीं हैं। दूसरे शब्दों में श्री कृष्ण अर्जुन से यह कह रहे हैं कि वह यदि युद्ध से विमुख हो जाय, तो भी इन सब योद्धाओं को विनाश से नहीं बचाया जा सकता। इसलिए अर्जुन से वे कह रहे हैं कि जो घटना अतिभौतिक स्तर में घटित हो चुकी है, उसे भौतिक स्तर में कार्यान्वित करने का काम उसे करना है। भगवान् कहते हैं:

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।

—'हे अर्जुन, ये सब मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, तुम केवल निमित्त बनो।'

अर्जुन को केवल निमित्त बनना है, जो घटना अतिभौतिक शक्ति से स्वयं घटित हो रही है और भौतिक स्तर में प्रत्यक्ष सामने आनेवाली है उसका भौतिक साधन बनना है। परन्तु निमित्त बनना सरल नहीं है। जब अर्जुन युद्ध का और महा विध्वंस का अतिभौतिक दृश्य देख लेता है तब सहज ही भयभीत हो जाता है। उस भय का प्रभाव उसकी भौतिक क्रिया पर भी पड़ता है। वह तो होगा ही, क्योंकि जब मन में भय छा गया हो, तब बाहर भी भय होगा ही! मनुष्य अपने व्यक्तित्व के अलग-अलग टुकड़े करके चल नहीं सकता: जीवन के एक अंग पर जो प्रभाव पड़ेगा वह दूसरे अंगों पर भी पड़े बिना नहीं रहता। अर्जुन भीतर और बाहर भयभीत हो उठता था, इसी लिए उसके मुँह से विश्वरूप दर्शन के बाद निम्न उद्गार निकलना स्वाभाविक ही था:

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

—'मैं ने ऐसा दृश्य देखा जो पहले कभी नहीं देखा था। उसे देख कर मैं हर्षित हुआ हूँ और साथ ही मेरा मन भय से संत्रस्त भी हो गया है।'

अर्जुन ने जो देखा उससे उसे भय हुआ। लेकिन आध्यात्मिक दर्शन कभी भयभीत करनेवाला नहीं होता। परन्तु अतिभौतिक दृश्य या दर्शन, वह भी जब विशेष युद्ध को विनाशक और विध्वंसकारा हो, वह भावना को छूनेवाली अनन्त शाखाओं में दिखाई दे, तब निश्चित ही महाभयानक और विकराल होता ही है। यदि हम अपने क्रोध का अतिभौतिक स्वरूप देख लें तो सम्भव है हम खुद से ही डर जायें। आन्तरिक घटना और भौतिक घटना के बीच समय का कुछ व्यवधान रहता है। भावना की शक्ति एक बार सक्रिय हो गयी, कि वह भौतिक स्तर में परिणत हो कर रहेगी। परन्तु जो भी आन्तरिक घटना भौतिक स्तर में होती है, उस की अपनी मूल भीषणता या विद्रूपता उस परिणमन की अवधि में कुछ मद्धिम पड़ जाती है। यह अच्छा ही है कि हम अपने जीवन-प्रसंगों का वह आन्तरिक या चैतसिक स्वरूप नहीं देख पाते; अन्यथा हम अपने साथियों के और आसपास के प्राणियों के सभी अप्रिय प्रसंगों के उस अतिभयानक आन्तरिक स्वरूप को देख कर उनसे और भी अधिक द्वेष करने लगते। *अर्जुन ने जो दृश्य देखा उसका अर्जुन पर इतना प्रभाव पड़ा कि संजय* धृतराष्ट्र को सुना रहा है कि:

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ।

—'केशव के ये वचन सुन कर थरथर काँपता हुआ किरीटधारी अर्जुन हाथ जोड़ कर बारबार नमस्कार करते हुए, अत्यन्त भयभीत हो कर, गद्गद् हो कर श्री कृष्ण से बोला ।'

वह रूप देख कर अर्जुन थरथर काँपने लगा । वह रूप महासंहारक और विश्वविध्वंसकारी था । गूढ़ का दर्शन सर्वदा संहार और विध्वंसात्मक ही होता है, सो बात नहीं है । परन्तु यहाँ वह इसलिए भयानक है क्योंकि श्री कृष्ण ने भावी विनाश का पूर्वदर्शन कराया है । दूसरे शब्दों में, यहाँ श्रीकृष्ण के सामने युद्ध का सन्दर्भ है और इसीलिए विनाश और विध्वंस का दृश्य दिखाना स्वाभाविक है । यहाँ विश्वरूप ने प्रलय का रूप धारण किया है । अर्जुन ध्वंसलीला का ताण्डवनृत्य देख रहा है । इससे भयभीत होकर अर्जुन कृष्ण के उसी सौम्य रूप के दर्शन के लिए तरसने लगता है तो कोई आश्चर्य नहीं है । अर्जुन कहता भी है :

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।

—'हे प्रभु, मैं आप का मुकुटशोभित गदाचक्रधारी वही रूप देखना चाहता हूँ । इस लिए हे विश्वमूर्ते, हे सहस्रबाहु, आप अपना वही चतुर्भुज रूप धारण करें ।'

अर्जुन परमेश्वर रूप देखना चाहता है, सहस्रबाहु रूप के स्थान में चतुर्भुज रूप देखना चाहता है . वह उनको अपने सौम्य मित्र के रूप में देखना चाहता है, महाशक्तिसम्पन्न, विकरालरूपधारी देवादेव के रूप में नहीं । अनभ्यस्त दृष्टि के लिए गूढ रूप का दर्शन सह्य नहीं होता, मनुष्य उससे भ्रमित हो जाता है, क्योंकि वह जो कुछ देखता है वह सारा अतिभौतिक रूप बड़ा ही भयानक, भ्रामक और व्याकुल कर देनेवाला होता है, क्योंकि स्थूल भौतिक रूप का ही वह विराट और विशाल रूप होता है । अर्जुन की आँखें वैसा दृश्य देखने को सर्वथा अनभ्यस्त थीं । यह जान कर श्री कृष्ण उससे कह रहे हैं :

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।

—'मेरे इस घोर रूप को देख कर व्याकुल मत होओ, विमूढ़ न बनो ; अब निर्भय होओ और तुम्हारा चित्त शान्त हो। पुनः मेरा यही रूप देखो।'

गीता कहती है कि श्री कृष्ण ने 'भयभीत' अर्जुन को 'अपना सौम्य रूप धारण कर' उसे आश्वस्त किया। यहाँ एक बात की ओर सहज ही ध्यान जाता है और वह यह कि परमेश्वर की विभूतियों का वर्णन सुनते समय अर्जुन को किसी प्रकार का भय नहीं हुआ। क्योंकि विभूतिवर्णन में अर्जुन का ध्यान अतीन्द्रिय और निराकार की ओर आकृष्ट किया गया था, रूपों और आकारों की ओर नहीं। यह यौगिक दृष्टि की विशेषता है। गूढविद्या में तो अगोचर के रूप और वर्ण का, आकार और रचना का महत्व होता है। समझने की बात यह है कि गुप्तविद्या में दृष्टि का मानदण्ड बदलता है। गूढदर्शन का अर्थ है भिन्न कोण से दर्शन करना। दृष्टि का मानदण्ड बदलने का अर्थ हैं दृश्य का आकार बदलना, प्रकार बदलना नहीं। यह और बात है कि दृष्ट के कोण अलग-अलग होते हैं, हो सकते हैं ; परन्तु उसमें तो आकार का भेद होता है। दृष्टि का मानदण्ड कुछ भी क्यों न हो, उसमें दृश्य और द्रष्टा का भेद बना रहता है। द्रष्टा चाहे जिस कोण से देखे, उसका अवस्थान (पोजिशन) कैसे भी बदले, दृश्य और द्रष्टा का द्वैत तो ज्यों का त्यों बना रहता है। परन्तु योगदृष्टि में यह द्वैत पूर्ण नष्ट हो जाता है : जब दृश्य और द्रष्टा का भेद सर्वथा नष्ट हो जाता है, तभी अतीन्द्रिय का रहस्य खुलता है। किन्तु अगोचर की विशालता तो दृष्टि का परिमाण बदलने से गोचर होनेवाली है। गीता के दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में क्रमशः योग-दृष्टि और गूढ दृष्टियों का विवेचन किया गया है—एक, विभिन्न विभूतियों के द्वारा इन्द्रियातीत का विचार करता है, और दूसरा, अनेक रूपों के द्वारा अगोचर का वर्णन करता है।

जब श्री कृष्ण अपना सामान्य रूप धारण कर लेते हैं तब अर्जुन सन्तोष और आनन्द के साथ कहता है :

> दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन
> इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।

—'हे जनार्दन, आपका यही सौम्य मानुष रूप देखकर मैं अब सचेत हुआ हूँ, अपने स्व-भाव को प्राप्त हुआ हूँ।'

जैसे पहले कहा गया है, आध्यात्मिक दर्शन में सर्वदा शांति और समाधान है। मात्र दर्शन से ही वह समाधान मिलता है, क्योंकि जो भी आध्यात्मिक होगा, उसमें प्रशांत सौम्यता निरन्तर प्रवाहित रहती है। अध्यात्म में बाह्य प्रदर्शन नहीं होता, न नाम-रूपों का महत्त्व होता है। अर्जुन ने विश्वरूपदर्शन में रूप-वैचित्र्य ही देखा; इसलिए वह चैतसिक दर्शन था, अतिभौतिक दर्शन था, आध्यात्मिक नहीं।

अध्याय के अन्त में श्री कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं :

> नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
> शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।

—'तुमने मेरा यह जो रूप देखा, इसे न वेदों के द्वारा देखा जा सकता है, न तपस्या के द्वारा, न दानों से देखा जा सकता है, न यज्ञों से।'

यहाँ एक विशेष बात हमें ध्यान में लेनी है, वह यह कि जब अर्जुन के आगे विश्वरूप प्रकट हुआ तब उसने देखा भी, और देखने में असमर्थ भी रहा। उसे देखते-देखते वह बहुत भयभीत हो उठा, उसे समझने की सामर्थ्य उसमें नहीं रह गयी थी। यह ठीक है कि मनुष्य वेदाध्ययन से, तपाचरण से, यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों से चैतसिक शक्तियों का विकास कर सकता है; इन चैतसिक शक्ति के विकास से उसकी दृष्टि उसकी दर्शनशक्ति कुछ समृद्ध अवश्य होती है, परन्तु वह पर्याप्त नहीं है। देखना यानी केवल दर्शन करना नहीं है, आकलन करना है। जब मनुष्य भयग्रस्त हो जाता है तब वह आकलन कैसे कर सकेगा? और चैतसिक सामर्थ्य के विकास की भूमिका अनुकूल न हो, उसकी पृष्ठभूमि समुचित न रही, तो उससे होनेवाले दर्शन से भय होना अनिवार्य है। वह भूमिका और वह पृष्ठभूमि न वेदों से मिलनेवाली है, न दान से, न ही यज्ञ-यागादि से प्राप्त होनेवाली है। वह तो मात्र योगसाधना से ही प्राप्त हो सकती है। योगरहित गुप्तविद्या प्रायः भयानक होती है। गुप्तविद्या से सृजन और संहार का स्वरूप प्रकट होता है; उस स्वरूप के पीछे निहित तत्त्व यदि छूट जाता है, तो उस स्वरूप का अपने में कोई अर्थ नहीं रह जाता। स्वरूप का महत्त्व उसके हेतु में है। और वह हेतु उस क्षण में ही हृदयंगम होता है जिस क्षण में द्रष्टा दृश्य में लीन हो जाता है, द्रष्टा स्वयं दृश्य बन जाता है। उस क्षण का नाम कुछ भी हो सकता है—कोई उसे योग कहते हैं तो कोई भक्ति कहते हैं। अन्त में योग

विद्या के सूचन के साथ गुह्यविद्या का यह अध्याय समाप्त किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं :

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप

—'हे अर्जुन हे परन्तप, मुझे इस रूप में देखना जानना और मुझमें प्रवेश करना केवल अनन्य भक्ति से ही शक्य है।'

परन्तु वह भक्ति क्या है ? यही भक्ति बारहवें अध्याय का विषय है ; उसमें भक्तियोग की ही चर्चा है।

—: o :—

द्वादश अध्याय

अनिकेत

पौर्वात्य तथा पाश्चात्य दोनों जगत् के धर्म-विचार में भक्ति का विशेष स्थान माना गया है। श्री शंकराचार्य महान् ज्ञानी थे, तत्वज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए थे, वे जिस अवस्था तक पहुँचे थे वहाँ तक उधर का या इधर का कोई भी विचारक या दार्शनिक आज तक पहुँच नहीं पाया है। ऐसे शंकराचार्य भी जब प्रगाढ़ भक्ति में सने हुए स्तोत्र गाते हैं तो देख कर अत्यन्त आश्चर्य होता है। वे ज्ञान के सर्वोन्नत शिखर पर पहुँचे हुए थे, परन्तु वहाँ जाकर वे भक्ति की पूर्ण समर्पण-भावना के साथ मूक रह गये। प्रचण्डज्ञान से अबाधरूपेण मुखरित रहने वाली उनकी वाणी को जैसे काठ मार गया। हरिस्तुति करते हुए वे कहते हैं :

> श्रद्धाभक्तिध्यानशमाद्यैर्यतमानैः
> ज्ञातुं शक्यो देव इहैवाशु य ईशः
> दुर्विज्ञेयो जन्मशतैश्चापि विना तैः
> तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे।

—'जो परमेश्वर श्रद्धा, भक्ति, ध्यान, शम आदि साधनों द्वारा प्रयत्न करनेवालों के लिए यहीं तत्काल गोचर हो सकता है और उन साधनों के अभाव में सैकड़ों जन्मों में भी गोचर होनेवाला नहीं है, उस संसार तिमिरहारी हरि की स्तुति करता हूँ।'

यह परम आचार्य सुदृढ़ शब्दों में कह रहा है कि सत्यदर्शन श्रद्धा और भक्ति से ही सम्भव है, अन्य उपायों से नहीं। भारत के उस महान् ज्ञानयोगी ने अकाट्य तर्क और युक्तियों से ज्ञान की परमोत्कृष्टता का प्रतिपादन किया है। उनकी दृष्टि में ज्ञानयोग ही परम साधन था और अपने गीता भाष्य में तथा अन्य ग्रन्थों में भी उन्होंने ज्ञानयोग का ही प्रतिपादन किया है। इसलिए मन में शंका उठती है कि यदि ज्ञानयोग ही सार्वभौम साधन है, तो फिर उन्होंने

भक्ति को आत्मानुभूति का श्रेष्ठ साधन क्यों बतलाया ? भक्ति को प्रायः सत्यदर्शन का सरलतम और निकट का मार्ग क्यों कहा जाता है ?

ज्ञान, भक्ति और कर्म कोई ऐसे स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न साधन नहीं हैं, जिन का कि परस्पर कोई सम्बन्ध न हो। बल्कि तीनों मिल कर ही पूर्ण हैं। मनुष्य किस साधन से आरम्भ करता है, यह गौण है। वह ज्ञान से आरम्भ कर सकता है, भक्ति से कर सकता है या कर्म से कर सकता है : वह किसी से भी प्रारम्भ क्यों न करे, अन्य दोनों क्षेत्रों में भी उसे पदार्पण करना ही होगा। और तभी वह 'युक्त' पुरुष कहलायेगा, पूर्ण बनेगा। शब्द महत्व के नहीं हैं। शब्दों का भाव महत्वपूर्ण है। जैसे भक्ति को ही लें। जो व्यक्ति भक्ति से अपनी साधना आरम्भ करता है, उसे प्रारम्भ में अपने उपास्य की एक मानसिक मूर्ति गढ़ लेनी होती है। आंखों के सामने प्रत्यक्ष मूर्ति प्रस्तरमय हो सकती है, परन्तु अपनी उस मनोमूर्ति को वह विचार और भावना के ताने-बाने से बुने हुए गुणमय वस्त्रों से विभूषित कर लेता है। भक्त का यह उपास्य निश्चित ही उस की भावनाओं की सृष्टि है। वह अपने आराध्य में अपनी रुचि-अरुचियों को आरोपित करता है। भारत में वैष्णव सम्प्रदाय के इर्द-गिर्द जितने भी भक्तिपन्थ प्रचलित हैं उन सब में उपास्य के रूप में श्री कृष्ण के भौतिक स्वरूप को अपनाया गया है। ऐसी उपासना में उस भौतिक स्वरूप को केवल प्रतीक नहीं बल्कि साक्षात् परमेश्वर मान लिया गया। इसी भूल के कारण उपासना के नाना प्रकार बन गये, जो वास्तव में अनपेक्षित थे। इसे भक्ति की प्राथमिक अवस्था माननी चाहिए जिस में भक्त अपनी भावनाओं का आरोपण अपने आराध्य में करता है—चाहे वह आराध्य प्रस्तरमूर्ति, शब्द, विचार या अन्य कोई भी प्रतीक हो। भक्ति की इस अवस्था में भक्त और भगवान के बीच भक्त के मन के प्रक्षेपों का परदा खड़ा रहता है।

यह भक्ति की कल्पनामूलक अवस्था है, और इसे भक्ति क्षेत्र में प्रवेश की स्थिति कह सकते हैं। वास्तविक भक्ति तो इससे आगे की स्थिति है। उस में भक्त ज्ञात के सामने नहीं, अज्ञात के सामने खड़ा रहता है। भक्त जब अज्ञात के सामने खड़ा होता है तभी उसके जीवन में सम्पूर्ण और स्वयम्भू समर्पणभाव उत्पन्न होता है। इसलिए आवश्यक है कि भक्त के मन को सभी भावनाओं कल्पनाओं और विचारों से जिन का आरोपण भक्त प्रायः करता है भगवान

अस्पृष्ट रहे इसी का अर्थ है कि भक्त को विशुद्ध भक्ति के मार्ग पर चलने के लिए ज्ञानमार्ग का अवलम्बन लेना होगा।

संसार में अधिकतर लोगों के लिए ज्ञान और भक्ति-मार्गों की अपेक्षा कर्म-मार्ग विशेष अनुकूल होता है। वे अपनी उन्नति कर्म के द्वारा ही कर पाते हैं। परन्तु कर्ममार्गी को भी पहले ज्ञानमार्ग का अनुसरण करना होता है। तो कर्ममार्गी के लिए आवश्यक ज्ञानमार्ग क्या है? कर्ममार्ग में सम्यक् कर्म के उदय से पहले कर्ता, का अहंकार प्रबल रहता है: कर्ता अपने फल के प्रति कर्तृत्व का अभिमान रखता है और उसका फल स्वयं भोगने की इच्छा रखता है। कहना न होगा कि कर्तृत्व का अस्तित्व कर्म को दूषित करने वाला होता है फिर वह कर्म चाहे जितना उदात्त क्यों न हो। उस में कर्म का मुख्य लक्ष्य स्वयं कर्ता होता है। परन्तु कर्म तभी विशुद्ध होता है जब कि उसमें से हेतु निकल जाता है दूसरे शब्दों में, कर्ता के लुप्त होने पर शुद्ध कर्म सम्भव होता है। कर्ता का लोप होने के लिए मनुष्य को पहले यह जानना होगा कि कर्ता, कर्म के प्रत्येक स्वरूप पर और उस के हर पहलू पर, जाने-अनजाने किस प्रकार छाया रहता है, सभी कामों पर कर्ता का प्रक्षेपण कैसे होता है? कर्म-मार्गी के ज्ञान मार्ग का यही स्वरूप है। समर्पित या भावनाभावित कर्म वह है जो कर्ता का अपना नहीं होता, बल्कि कर्ता के द्वारा 'किसी अज्ञात' का कराया होता है। उस में कर्ता केवल निमित्त होता है, साधन होता है। वह एक ऐसी सधी हुई वीणा है जिसके तार मिलते हुए हों और वादक के कोमल स्पर्श से सुमधुर नाद झंकृत करने को तैयार हो। वीणा को यदि उत्तम साधन सिद्ध होना है तो उसे अपने को वादक के हाथों पूर्णतया समर्पित कर देना होगा। लेकिन यह समर्पण तब सम्भव होगा जब वीणा का अपना कोई नाद न हो, वादक के संकेत के अनुसार निनादित होने को मुक्त हो। अपने नाद से मुक्त होना आराध्य को अपनी भावनाओं के स्पर्श से मुक्त रखना है। इस प्रकार कर्ममार्गी तथा भक्तिमार्गी दोनों को ज्ञानमार्ग का अनुसरण करना परम आवश्यक है; क्योंकि ज्ञानी को ही भक्ति का आनन्द प्राप्त हो सकेगा जिसके बलपर उसका ज्ञान विज्ञान में बदल सकता है, और इसी प्रकार सामान्य कर्म भी कर्मयोग में, अनासक्त कर्म में परिवर्तित हो सकते हैं। ज्ञान से भक्ति, और भक्ति से कर्म—यही मनुष्य के अध्यात्म-जीवन के आरोहण और अवरोहण की धारा है। ज्ञान,

भक्ति, कर्म इनके मेल से आध्यात्मिक जीवन का पूर्ण रूप बनता है। गीता में श्री कृष्ण कर्म और ज्ञान दोनों मार्गों की चर्चा कर चुकने के बाद इस बारहवें अध्याय में भक्तिमार्ग का विवेचन कर रहे हैं।

अर्जुन अपने आचार्य के सामने पहला प्रश्न प्रस्तुत करता है कि 'आपकी उपासना में और अव्यक्त अक्षरतत्व की उपासना में उत्तम कौन सी है ?'

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।

गीता में आरम्भ से अन्त तक सर्वत्र प्रयुक्त होनेवाले 'मुझे' शब्द का अर्थ 'अव्यक्त' है यह हमने पहले कहा है। लेकिन अब यहाँ पहली बार अर्जुन के इस प्रश्न में उस 'मुझे को अव्यक्त से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त देख रहे हैं, मानों उन दोनों में कुछ भेद हो। इस भेद का मर्म समझने के लिए हमे गीता के दसवें और ग्यारहवें अध्यायों की पृष्ठभूमि ध्यान में रखनी होगी। उन दोनों अध्यायों के सन्दर्भ में ही इस बारहवें अध्याय का अर्थ समझा जा सकता है। उन दोनों अध्यायों में सत्-तत्व के व्यक्त स्वरूप की चर्चा की गयी है यानी इन्द्रियगम्य और ध्यानगम्य व्यक्त सृष्टि में 'सत्य' की अभिव्यक्ति की अर्थात् विभूतिमत्ता की चर्चा की गयी है। सभी वस्तुओं में अतीन्द्रिय तत्व के द्वारा वह विभूतिमत्ता प्रकट होती है जो उनका विशेष गुण है, असाधारण धर्म है। विश्वरूपदर्शन में अर्जुन को अदृश्य और अगोचर सृष्टि की एक झलक दिखायी गयी। उन दोनों अध्यायों में सृष्टि के व्यक्त स्वरूप का विवेचन किया गया। उसपर भगवान् ने कहा कि यह जो तुम ने देखा वह व्यक्त सृष्टि का एक अंश है। इस प्रकार परम सत्य के साक्षात्कार के दो प्रकार हुए : एक, व्यक्त का अंशदर्शन, और दूसरा, अव्यक्तानुभूति। 'मुझे' के इस व्यक्त और अव्यक्त का ही विवेचन गत दो अध्यायों में हमने देखा। इस भूमिका के साथ यह बारहवाँ अध्याय पढ़ना है। अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में श्री कृष्ण कह रहे हैं :—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।

—'जिनका चित्त अव्यक्त में स्थित होता है उनको अधिक क्लेश होता है, क्योंकि देहधारियों के लिए अव्यक्त की प्राप्ति दुःसाध्य है।'

श्रीकृष्ण समझा रहे हैं कि जो 'मुझे' व्यक्त में भजते हैं और जो अव्यक्त में भजते हैं दोनों मुझे प्राप्त होते हैं, किन्तु देहधारियों के लिए अव्यक्त का मार्ग अधिक कष्टदायक है। इसी अध्याय के प्रारम्भ में हमने देखा कि भक्ति की आरम्भिक अवस्था सदा प्रतीक-प्रधान होती है। इसलिए भक्ति का आरम्भ व्यक्त से होता है। अव्यक्त में पहुँचने के लिए मनुष्य को व्यक्त में से होकर गुजरना पड़ता है। चित्त को अव्यक्त में स्थिर करना बहुत कठिन है, क्योंकि अव्यक्त तो मन की पहुँच से परे है। मन जिसे अव्यक्त समझता है वह तो मूर्त चिन्तन के प्रतियोगी अमूर्त चिन्तन के सिवाय कुछ नहीं है। गणित का चिन्तन अमूर्त अवश्य है, क्योंकि वह प्रतीक पर आधारित है, फिर भी अव्यक्त, वह अमूर्त नहीं है। मन का विषय-चिन्तन स्थूल चिन्तन है और मनका प्रतीक-चिन्तन अमूर्त चिन्तन है। मन ज्यों-ज्यों प्रवृद्ध और विकसित होता जाता है त्यों-त्यों मूर्त से अमूर्त की ओर बढ़ता जाता है। स्थूल या मूर्त चिन्तन में रूप प्रमुख होता है : अमूर्त-चिन्तन में नाम प्रमुख होता है। मनका सारा क्षेत्र नाम-रूपात्मक ही होता है। अरूप और अनाम मनकी पहुँच से परे हैं। श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि अव्यक्त में आसक्त व्यक्तियों को क्लेश अधिक है, क्योंकि अव्यक्त की खोज में प्रवृत्त होनेवाला मन स्वयं जानता ही नहीं कि वह क्या खोज रहा है। भगवान् यह नहीं कह रहे हैं कि अव्यक्त का साक्षात्कार हो ही नहीं सकता, बल्कि वे कह रहे हैं कि मनः प्रक्रिया से उसको खोजने में क्लेश अधिक है।

इस अध्याय में भगवान् भक्ति की विभिन्न अवस्थाओं का सुन्दर विवरण दे रहे हैं। सच्ची भक्ति उस अवस्था का नाम है जिसमें चिन्तनमात्र समाप्त हो चुका होता है। परन्तु एकदम उस अवस्था में पहुँचना शक्य नहीं है। उसके लिए मनको मनकी ही सहायता से पार करना होगा। भक्ति के जितने भी प्रकार हैं वे सब मन को पार करने के लिए हैं। मूर्त से अमूर्त, और अमूर्त से अव्यक्त—यही 'मन' से 'परा बुद्धि' तक के आरोहण की प्रक्रिया है।

अर्जुन से श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि 'मुझमें ही अपनी बुद्धि को प्रवेश करने दो। उसके बाद तुम मुझमें ही, निस्सन्देह, निवास करोगे।'

> ...मयि बुद्धिं निवेशय।
> निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।

बुद्धि को अन्दर प्रवेश करने देने का अर्थ है ज्ञान को प्रज्ञा का रूप देना। क्योंकि बुद्धि प्रायः बहिर्मुख रहती है, अन्तर्मुखी नहीं होती। बुद्धि को अन्तर्मुख होने देने का अर्थ है उसकी सारी प्रक्रिया को बदल देना, उसे ऊँचा उठाना। अगर यह हो जाता है तो फिर मनुष्य सदा के लिए ब्रह्म में स्थित हो जाता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से बुद्धि का त्याग करने को नहीं कह रहे हैं, सोच-विचार से पहले ही, बिना विचार किये ही विचार को मान लेने को बात नहीं कह रहे हैं, यानी मन की निचली अवस्था में पहुँचने का परामर्श नहीं दे रहे हैं! बल्कि बुद्धि को तो रहना ही है किन्तु बहिर्मुखी रहने के बजाय, सत्यधाम के अन्दर उसे प्रवेश करना है, अन्तर्मुखी होना है। और यही मन की शून्यता है, बुद्धि का अन्तःस्फूर्ति में रूपान्तरण है :

अब, यह बुद्धि को बहिर्मुखता के स्थान में अन्तर्मुखता कैसे प्राप्त हो? भगवान् कहते हैं।

> अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
> अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।

—'हे अर्जुन, यदि तुम अपना चित्त मुझमें स्थिर न कर सको, तो अभ्यासयोग से अर्थात् योग के अभ्यास से मुझे पाने का प्रयत्न करो।'

मन के शून्य बनने की स्थिति परम उन्नत स्थिति है, क्योंकि उसमें व्यक्त अव्यक्त का प्रतीक बन जाता है। परन्तु उस स्थिति में पहुँचने से पहले योग साध लेने की, एकाग्रता की, अथवा अधिक सही शब्दों में कहना हो तो, सहज ध्यान और अयत्न अवधान प्राप्त करने की आवश्यकता है। जहाँ अवधान के लिए प्रयत्न आवश्यक होता है, वहाँ मन निश्चित विक्षेप का शिकार बन जाता है। आखिर मन को विक्षिप्त करनेवाला क्या है? वह है कर्मफलात्मक हेतु, जिसके कारण मन जाने-अनजाने विक्षिप्त और विभ्रान्त होता है। इसलिए जब तक सहज अवधान सधता नहीं, तब तक बुद्धि की अन्तर्मुखता का चमत्कार घटना नहीं है। बुद्धि के अन्तर्मुख होने का अर्थ है बुद्धि का बोध के लिए प्रयास करने से विरत होना। यह प्रयास-विरति तभी सम्भव है जब मन विक्षेपों के आकर्षण से मुक्त हो।

भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि वह यदि इस अयत्न अवधान की स्थिति में पहुँचने में असमर्थ हो तो, कम से कम 'मत्कर्मपरायण' तो बने : क्योंकि

मदर्थ कर्म करने से भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। अयत्न अवधान तभी सम्भव है जब फला-सक्ति (मोटिव) समाप्त हो। स्मरण रहे, फलासक्ति केवल चेतनावस्था में ही नहीं रहती, अचेतनावस्था में भी होती है। कृष्ण कह रहे हैं कि 'मदर्थ' कर्म करना चाहिए। प्रायः हमारे सभी कर्मों में 'अहं' सर्वप्रमुख रहता है, ज्यों-ज्यों मन विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों वह अपने को आवरण में छिपाता जाता है। 'अहं' का खुलकर प्रत्यक्ष सामने आना, असभ्यता या फूहड़पन कहा जायेगा। इसलिए वह अन्दर ही अन्दर काम करता रहता है और अचेतनावस्था में फलासक्ति के रूप में काम करता रहता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि अचेतनावस्था में रहनेवाली फलासक्ति अधिक प्रबल होती है और चेतन मन के कार्य-कलापों को अत्यधिक प्रभावित करती है। इसलिए श्री कृष्ण अर्जुन से उस अचेतनावस्था की फलासक्ति को मोड़ने और उसे समाप्त कर देने को कह रहे हैं, ताकि सहज अवधान सध सके और तत्परिणामस्वरूप मन की शून्यता, भक्ति की उच्चतम स्थिति प्राप्त हो सके।

श्रीकृष्ण अपने प्रिय शिष्य के प्रति अत्यन्त दयालु थे, इसीलिए आगे कह रहे हैं कि 'यदि यह भी शक्य न हो तो वह चेतनावस्था की आसक्ति को तो मिटायें।' श्रीकृष्ण कहते हैं :

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।

—'यदि यह भी न कर सको तो मेरे योग का आश्रय लेकर, संयम-पूर्वक समस्त कर्मों का फलत्याग करो।'

कर्मफल का त्याग चेतनावस्था का काम है फलप्राप्ति की आसक्ति चेतन मन में होती है। अधिकांश लोग कुछ न कुछ फल पाने के हेतु से ही कर्म में प्रवृत्त होते हैं—वह फल चाहे भौतिक हो या तथाकथित आध्यात्मिक। शुद्ध भक्ति की सिद्धि के लिए मनुष्य को चेतनावस्था के सभी हेतुओं का त्याग करना होगा, क्यों कि जब तक हेतु बने रहेंगे, तब तक भक्त विक्षेपों का शिकार होता ही रहेगा और उसे उपास्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कराने वाला अवधान नहीं सध सकता।

इस प्रकार भगवान् अर्जुन के सामने भक्ति की विभिन्न अवस्थाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे उसे पथदर्शन हो सके। अब तक श्रीकृष्ण ने अपने परम सखा

और आत शिष्य को भक्ति की जो विभिन्न अवस्थाएँ समझायी हैं वे संक्षेप में ये हैं : कर्मफलत्यागपूर्वक चेतनावस्था के हेतुओं का नाश ; ईश्वरार्थ कर्माचरण के द्वारा अवचेतनावस्था की फलासक्ति का निरसन ; मन के सहज अवधान अवस्था की प्राप्ति जिसमें बुद्धि अन्तर्मुख होती है और भक्त को भगवान् में प्रतिष्ठित कर देती है। डा० राधाकृष्णन् ने अपनी भगवद्गीता में कहा है कि :–

"कर्मफलत्याग की अपेक्षा भक्ति, ध्यान और योग अधिक दुष्कर हैं।"

और यही कारण है कि भगवान् भक्ति के प्रारम्भिक साधन के रूप में कर्म-फलत्याग सुझा रहे हैं, यानी मन को चेतनावस्था के हेतुओं से मुक्त करने को कह रहे हैं। यह सध जाता तो साधक अचेतन मन को सँभाल सकता है ; फिर उसके बाद सहज अवधान प्राप्त कर, मन के द्वारा कल्पित समस्त ईश्वर सम्बन्धी कल्पनाओं को भी छोड़, साक्षात् ईश्वर सान्निध्य प्राप्त कर सकता है।

बारहवें अध्याय में श्री कृष्ण ईश्वर-सन्निधि में रहने वाले सच्चे भक्तों के लक्षण बता रहे हैं, उन भक्तों के नहीं, जो ईश्वर को मूर्तियों से खेला करते हैं। कहते हैं कि भक्त क्षमावान् होते हैं। यह बड़ा विलक्षण मालूम होता है कि भगवान् ने भक्तों के लक्षणों में क्षमा को जोड़ दिया है। आखिर क्षमा क्या है और कौन क्षमा कर सकता है ? अंग्रेजी में एक मुहाविरा है--'*फर्गिव एण्ड फर्गेट*' (क्षमा करो और भूल जाओ) । इसमें बड़ा अर्थ निहित है। भूलने की क्षमता न हो तो क्षमा करना सम्भव नहीं है। भूलने का अर्थ है स्मरण के सभी चिह्न मिटा देना। स्मरण ही है जो विक्षेप पैदा करता है ; वही सहज अवधान में बाधक है। मन को शून्य बना देनेवाला भक्त या योगी स्मृति के समस्त चिह्नों को मिटाकर सर्वथा मुक्त हो चुका होता है, और इसी लिए वह क्षमा कर सकता है जो कि उसका एक उत्कृष्ट गुण है। वह सदा उदारचित्त होता है, क्योंकि वह भूतमात्र के प्रति द्वेषरहित (अद्वेष्टा) होता है, वह सबका मित्र होता है, सबके प्रति करुणावान् होता है। सच्ची मैत्री तभी सम्भव होती है जब उसके पीछे क्षमाशीलता हो। जो मन अत्यधिक स्मरणशील होता है, वह कभी क्षमाशील नहीं हो सकता और इसलिए उसमें कभी मैत्री का गुण आ नहीं सकता। भक्त के लक्षण बताते हुए कृष्ण कह रहे हैं :

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।

—'जिससे संसार क्षुब्ध (त्रिक) नहीं होता, जो संसार से क्षुब्ध नहीं होता और जो हर्ष, शोक, भय और क्रोध से मुक्त है वह मेरा प्रिय है।'

संसार किससे क्षुब्ध होता है : उससे, जो क्रूर है, आक्रामक है, जो कभी कोमल नहीं होता, सदा विरोधवृत्ति पाले रहता है। भक्त तो किसी बात का आग्रही नहीं होता, न वह किसी के मन को बदलने की अपेक्षा रखता है, इसलिए वह सदा कोमल रहता है। चूंकि संसार उसे देखकर क्षुब्ध नहीं होता, इसलिए वह भी किसी से क्षुब्ध नहीं होता। दलदल में फंसे व्यक्ति को उठाने के लिए वह भी दलदल में कूदता है; उसे इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि उसके वस्त्र मैले हो जायेंगे। उसके चित्त में विरोध का कोई केन्द्र नहीं होता, इसलिए वह मुक्त संचार कर पाता है। उसके पास हर कोई पहुंच सकता है, क्योंकि वह अपने को चारों ओर दीवारों से घेर नहीं लेता। वह मुक्त-जीवन जीता है, जो मिल जाता है उसी से सन्तुष्ट होता है। भक्त के और लक्षण सुनाते हुए भगवान् कहते हैं :—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः

—'जो निरपेक्ष (अपेक्षा-रहित) होता है, शुचि, दक्ष, निश्चिन्त और व्यथाहीन होता है, जो सभी उपक्रमों का त्याग करता है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।'

मनुष्य के जीवन की सभी चिन्ताओं और व्यथाओं का मूल कारण है 'अपेक्षा'। अपेक्षा-ग्रस्त मन सदा भूतकाल की अपूर्ण कामनाओं की भविष्य में पूर्ति की आशा लिये रहता है। पूर्णकर्म में रत मनुष्य के कर्म में भविष्य की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं रहती; क्योंकि आरम्भ और अन्त दोनों वर्तमान में ही होते हैं। भक्त-लक्षणों में गीता एक विलक्षण शब्द प्रयोग कर रही है। वह कहती है कि भक्त 'सर्वारम्भ-परित्यागी' होता है, उपक्रममात्र का त्याग कर चुका होता है। इसका अर्थ क्या है ? हर उपक्रम का एक अन्त होता है और उन दोनों के बीच एक व्यवधान होता है। उस कालगत व्यवधान में ही आशा-अपेक्षा, भय-चिन्ता सब होती हैं। कर्म करना, पर आरम्भ न करना—यह है काल की परवशता से मुक्त होना। आरम्भहीन मनुष्य कालगति से परे होता है।

चूँकि वह कुछ भी आरम्भ नहीं करता, इसलिए वह कालातीत-में स्थित होता है।

गीता आगे कहती है कि भक्त शुभाशुभ-परित्यागी होता है। शुभ और अशुभ दोनों मन के द्वन्द्व हैं। जो मन शुभ का विचार करता है, वही अशुभ को जन्म देता है। महान् चीनी दार्शनिक लाओत्से का कहना है—

"संसार जब सुन्दर होने में सौन्दर्य देखता है, तब असुन्दर का अस्तित्व रहेगा ही ;

भला होने में ही जब भलाई देखता है, तब बुरे का भी अस्तित्व रहेगा ही ;

इस प्रकार भाव ही अ—भाव का ज्ञापक होता है।"

भक्त भलाई का नहीं, भले का त्याग करता है, क्योंकि भला बुरे का प्रतियोगी होता है। भले को ही भलाई समझना भूल है, क्योंकि यह अंश को ही पूर्ण समझना है। भक्त चूँकि पूर्णदृष्टि से सम्पन्न होता है इसलिए वह शुभ-अशुभ, सच-झूठ, सुन्दर-असुन्दर आदि द्वन्द्वों से मुक्त होता है।

भक्त-लक्षणों का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।

—'जो निन्दा और स्तुति को समान देखता है, मौन रहता है, जो कुछ मिल जाय उसी से सन्तुष्ट रहता है, जिसका कोई स्थिर आवास नहीं है, जो स्थिरमति है और जो भक्तिमान् है। वह मुझे प्रिय है।'

भक्त पुरुष, स्थिर-आवास-रहित होता है; अनिकेत होता है, उसका अपना कोई निश्चित स्थान नहीं होता। वह हर प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त होता है। घर बसाना मानो प्रतिबन्ध जोड़ लेना है। यहाँ आवास या निकेत का अर्थ ईंट-पत्थर का स्थूल भवन नहीं है, मानसिक आलम्बन है। जो मनुष्य सर्वथा मुक्त होता है, वह मानसिक प्रतिबन्धों से रहित होता है। तब उसका मन इधर-उधर भटकता नहीं। चूँकि वह किसी बात का आग्रह नहीं रखता, इसलिए उसे किसी का दबाव नहीं करना पड़ता। जो भी मिल जाय उसी में वह तुष्ट होता है और इसीलिए उसकी मति सदा स्थिर रहती है। जीवन जो ला दे उसी

को और उसी रूप में स्वीकार करता है। जो जैसे प्राप्त हो उसे वैसे ही स्वीकार करना जड़ता का सूचक नहीं है, क्योंकि जो जड़ होता है वह प्रवाह में बह जाता है लेकिन जीवन को यथावद् ग्रहण करनेवाला प्रवाह के ऊपर तैरता है, और साथ-साथ साक्षी बना रहता है। जो मनुष्य बह जाता है, वह आगामी क्षण के जीवन को ग्रहण नहीं कर सकता। जो साथ देते हुए भी साक्षी रहता है वही सुदृढ़ रहता है, स्थिर रह सकता है। और वही, जीवन द्वारा लाई गई स्थिति को स्वीकार कर सन्तुष्ट होता है। यह भक्त का वैशिष्ट्य है। भक्ति का अर्थ भावुकता नहीं, संवेदनशीलता है। भक्ति कोई अनुष्ठान-विशेष नहीं है, वह तो किसी भी प्रकार की आसक्ति का केन्द्र न रखते हुए मुक्त विहार करने का नाम है। लाओत्से निम्न शब्दों में ऐसे भक्त के ही तो लक्षण बता रहा है।

"वह 'स्व' को नहीं देखता, इसीलिए स्पष्ट देखता है :
वह 'स्व' का आग्रह नहीं रखता, इसीलिए चमकता है:
वह 'स्व' का गर्व नहीं करता, इसीलिए वह गुणवान् है :
वह 'स्व' की लड़ाई नहीं करता, इसीलिए वह स्थिर रहता है।"

जो व्यक्ति श्रद्धावान् होता है, वही स्थिर रहता है, शेष सभी नष्ट होनेवाले हैं। श्रद्धावान् पुरुष ज्ञात का परित्याग कर चुका होता है, और अज्ञात का सामना करने से उसे भय नहीं होता। अज्ञात से सम्बद्ध होने पर ही भक्ति का कुछ अर्थ है। जो मनुष्य सांसारिक आश्वासनमात्र को ठुकराता है, वही 'अज्ञात' के वास्तविक आश्वासन को जानता है। सन्तत धारा के बीच अचंचल रहना यानी नश्वर के बीच शाश्वत को देखना है। इसी 'पर'-दर्शन की ओर गीता हमें अगले अध्याय में, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेचन के द्वारा ले जाती है।

त्रयोदश अध्याय

मौन द्रष्टा

भगवद्‌गीता का अवतरण कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में घटित होनेवाली घटनाओं के विषय में अन्ध नृपति धृतराष्ट्र को संजय द्वारा दिये गये इतिवृत्त के रूप में हुआ है। भगवद्‌गीता में संजय के चरित्र का बड़ा महत्व है, वह तटस्थ और स्पष्ट वस्तु-दर्शन का प्रतीक है। श्री कृष्ण अपने सारे उपदेशों में जीवन के प्रति वस्तुलक्षी दृष्टि रखने पर विशेष बल देते हैं। गीता के अनुसार सम्यक् कर्म अथवा कर्म योग सम्यक्‌ज्ञान की भूमिका में ही सम्भव है। वस्तुलक्षी दर्शन वह है जिस में आत्मलक्षी प्रक्षेपमात्र का पूर्ण अभाव हो। सभी आत्मलक्षी प्रक्षेप दृश्य वस्तुओं के दर्शन तक सीमित रहते हैं। और इसलिए सम्यक् दर्शन में विषय को देखना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि दर्शन का साधन जो विषयी अर्थात आत्मा है, उसे भी स्पष्ट देखना आवश्यक है। यह दर्शन-साधन यदि दूषित है, उसका अपना कोई रंग है, तो दर्शन की सारी प्रक्रिया दूषित हो जाती है, रंगीली हो जाती है। सच्चा ज्ञान वह है जिस में दृश्य विषय का ही नहीं, विषयी द्रष्टा का भी ज्ञान हो। जब तक ज्ञाता का ज्ञान न होगा, तब तक सारा ज्ञान अपूर्ण है और इसलिए ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। किन्तु ज्ञाता का ज्ञान कैसे प्राप्त होगा ? चूंकि ज्ञान की प्रक्रिया में सदा ज्ञाता उपस्थित रहता है, इसलिए ज्ञानप्राप्ति की ही पद्धति से ज्ञाता को भी जाना जा सकता है। दूसरे शब्दों में, चिन्तन की प्रक्रिया में चिन्तक सदा विद्यमान है। चिन्तन के निष्कर्षों का उतना महत्व नहीं है; जितना महत्व इसका है कि हम उस निष्कर्ष पर कैसे पहुंचते हैं। विषयरूप वस्तुओं का संचय महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि महत्व-पूर्ण यह है कि उस विषय-संचय की प्रक्रिया में द्रष्टा का विवेक किस मात्रा में था। मनुष्य के चित्त की यह एक विलक्षण शक्ति है कि वह सदैव अपनी मर्जी के अनुकूल विषय खोज लेता है वह जो भी देखता है, उस पर अपना रंग चढा लेता है। उसमें अपनी बात रख कर ही उसे देखता है। इस प्रकार सारी प्रक्रिया में तीन बातें प्रमुख हैं : ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान प्रक्रिया। यह सही है कि ज्ञान में सदा दो वस्तुएं रहती हैं : ज्ञाता और ज्ञेय, (विषय) परन्तु ज्ञाता को जानने

के लिए हमें ज्ञान की प्रक्रिया का परीक्षण करना होगा, क्योंकि उस प्रक्रिया में ही ज्ञाता प्रतिबिम्बित होता है। ज्ञान की चर्चा करते हुए गीता इन दोनों अंगों विषय और विषयी पर ठीक ही विशेष बल देती है। तेरहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं :

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।

—'क्षेत्र का तथा क्षेत्रज्ञ का ज्ञान—यह मेरे मत से सही ज्ञान है।'

इस अध्याय की चर्चा का मुख्य विषय क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ है। ज्ञान का विषय रूपी बाह्य जगत् क्षेत्र है; और ज्ञान का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है। दार्शनिक परिभाषा में क्षेत्र को 'प्रकृति' और क्षेत्रज्ञ को 'पुरुष' कहा जाता है। इस तेरहवें अध्याय में श्री कृष्ण अर्जुन को यह गहन दार्शनिक तत्व समझा रहे हैं, जो पौर्वात्य तथा पाश्चात्य सभी दर्शनों का मूल आधार है। श्री कृष्ण कहते हैं :

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्चयद्विकारि यतश्चयत्
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।

—'वह क्षेत्र जो है, जैसा है, उसके जो विकार हैं, वह जिसमें है, तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है, और उसका जो प्रभाव है—यह सब संक्षेप में मुझ से सुनो।'

इस प्रकार इस श्लोक में पुरुष और प्रकृति के समस्त अंगों का समावेश हो गया है। क्षेत्र का विवेचन करते हुए गीता आगे कहती है :

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः।

—'पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, और अव्यक्त एवं मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ एक मन तथा पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध

यही क्षेत्र का परिपूर्ण चित्र है जिसके अन्दर क्षण-क्षण असंख्य विकार होते रहते हैं। क्षेत्र पंचभूतात्मक है; सभी भौतिक पदार्थों का पृथक्करण करने पर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये ही पाँच मूल द्रव्य शेष रहते हैं। क्षेत्र दस -इन्द्रियात्मक भी है—पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। हिन्दू-मनःशास्त्र के अनुसार मन को भी एक इन्द्रिय माना गया है। इसमें कोई शंका नहीं कि मन इन्द्रियों का राजा है; विषयेन्द्रिय-स्पर्श को ज्ञान में परिवर्तित करने में मन के अर्थ-निरूपण की मुहर अत्यावश्यक है। पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। गीता कह रही है कि बुद्धि भी क्षेत्र के अन्तर्गत है

क्योंकि बुद्धि चित्त की अमूर्त, अंधारिक तर्कशक्ति का नाम है। अहंकार भी क्षेत्र का ही एक भाग है। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में—"चेतनावस्था की अमूर्त अनुभूतियों की जो कृत्रिम आकृतिविशेष है वही अहंकार है।" इस सृष्टि की नश्वरता के बीच मन की नित्यता का प्रक्षेपण ही तो अहंकार है। क्षेत्र के विवरण में गीता यह भी कह रही है कि 'अव्यक्त' भी क्षेत्र का एक अंग है। क्षेत्र जब व्यक्त का नाम है, तब अव्यक्त उसका अंग कैसे ? हमने पिछले अध्यायों में देखा कि गीता दो प्रकार के अव्यक्त का वर्णन करती है। एक 'अपर' और दूसरा 'पर'। इनको हमने आत्मलक्षी अव्यक्त और परस्वरूप अव्यक्त कहा है। आत्मलक्षी अगोचर है, अदृश्य है, और इसलिए गीता के अनुसार क्षेत्र के अन्दर केवल दृश्य सृष्टि ही नहीं आती, अदृश्य जगत् भी आता है। जो आत्मलक्षी अव्यक्त है वह क्षेत्र का अंग है। जैसे ऊपर कहा गया, यहाँ क्षेत्र का विवरण सम्पूर्ण और सर्वांगीण है—उसमें दृश्य और अदृश्य दोनों का अन्तर्भाव है। ज्ञान का अर्थ क्षेत्र की सीमा की व्याख्या करना ही नहीं है बल्कि क्षेत्र में होनेवाले समस्त विकारों को जानना भी है। श्री कृष्ण यहाँ फिर एक बार क्षेत्रगत विकारों और वृत्तियों की विस्तृत सूची प्रस्तुत कर रहे हैं :

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।

—'इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, समुदाय, चेतना और धृति'। इस श्लोक के अनुसार प्रमुख वृत्तियाँ पाँच हैं—इच्छा, द्वेष, संघात या समुदाय, चेतना, और धृति। योगसूत्र में पतंजलि ने जिन वृत्तियों का उल्लेख किया है वे और ये लगभग एक ही हैं। चेतना अविद्या की समकक्ष है; संघात अस्मिता का द्योतक है; इच्छा और द्वेष ही राग और द्वेष हैं' धृति अभिनिवेश का यानी नित्यता का सूचक है। ये ही पंचविध वृत्तियाँ अनन्त रूपों में रूपान्तरित होती रहती हैं जो भावात्मक और अभावात्मक दोनों श्रेणियों में गोचर होते हैं। श्री कृष्ण इन्हीं रूप-परिमाणों की ओर निर्देश कर रहे हैं जो अन्ततः इन्हीं उपर्युक्त पंचविध वृत्तियों के लक्षण हैं।

क्षेत्र का तथा क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले विकारों का वर्णन करने के बाद श्री कृष्ण क्षेत्रज्ञ को लेते हैं। गीता परम सत्य के दो स्वरूप बता रही है—एक है परमात्मा, और दूसरा अन्तरात्मा। यह जो सिद्धान्त है कि 'जैसा ऊपर है वैसा ही नीचे है'—'उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में परमात्मस्वरूप और अन्तरात्म-

स्वरुप दोनों स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। क्योंकि व्यक्ति वस्तुतः उस समष्टि का ही प्रतिबिम्ब है। महाभारत मे कहा गया है कि आत्मा जब प्रकृति के विकारों से युक्त होता है, तब क्षेत्रज्ञ कहलाता है और जब प्रकृति के विकारों से मुक्त होता है तब परमात्मा कहलाता है। चूंकि उस 'परम सत्य' का स्वरुप द्विविध है; इसलिए उसका वर्णन हमेशा परस्पर विरोधी विशेषणों द्वारा किया जाता है; अन्यथा जो वस्तु 'पर' है वह 'आन्तरिक' कैसे हो सकेगा? मन की भाषा में कहना हो तो उसमें एक समय में एक स्थान में दो वस्तुएं रह नहीं सकती हैं। लेकिन 'जो' अन्दर भी है और बाहर भी, जो दूर भी है और पास भी, जो स्थिर भी है और चल भी, जो विभक्त भी है और अविभक्त भी, उसका वर्णन परस्पर विपरीत शब्दों के सिवाय कैसे हो सकता है? गीता मे श्री कृष्ण कह रहे है कि 'वह न सत् है, न असत्।'

> सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्
> असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।
> बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च
> सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।
> अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

—'वह ऐसा दिखाई देता है कि सभी इन्द्रियों के गुण उसमें हैं, फिर भी सभी इन्द्रियों से वह वर्जित है, अनासक्त है, फिर भी सर्वाधार है, वह निर्गुण है फिर भी गुणभोक्ता है। सभी भूतो में अन्दर-बाहर है: अचल है और चल भी है। चूंकि वह सूक्ष्म है इसलिए अज्ञेय है। वह दूर है और पास भी है। भूतों में विभक्त दिखाई देता है, फिर भी वह अविभक्त है।'

इन श्लोकों के अनुसार, वह सूक्ष्म है, इस लिए अज्ञेय है'। श्री कृष्ण ने जो शब्द प्रयोग किया है वह महत्व का है। वे कहते हैं कि वह, अविज्ञेय है, क्योंकि वह सूक्ष्म है। अन्तरात्मा इन्द्रियों के लिए इतना अगोचर है कि असाधारण संवेदना न हो तो वह पकड़ में आयेगा ही नहीं। जो अनासक्त है वह सबका आधार कैसे हो सकता है? 'आसक्ति रहित आधार' कुछ है जो चिन्तन से परे है। जो उदासीन है वह घनिष्ठ (इन्टिमेट) भी कैसे होगा? परन्तु परम सत्य का वर्णन तो परस्पर-विरोधी शब्दों से ही किया जा सकेगा। परन्तु यह विरोध मनके द्वारा मिटनेवाला नहीं है। उसे हल करने के लिए मनके द्वारा

किया जानेवाला कोई भी प्रयत्न वदतोव्याघात ही है। बौद्धधर्म के जेन सम्प्रदाय में गुरु अपने शिष्य के सामने 'कोआन' पर 'कोआन' (वाक्यार्थ की विशेष पद्धति) प्रस्तुत करता जाता है। उन कोआनों में ऐसे ही विपरीतार्थक शब्दावली भरी होती है। शिष्य उन्हें हल करने का ज्यों-ज्यों प्रयत्न करता जाता है, त्यों-त्यों अधिकाधिक उलझता ही जाता है। यह विरोधाभास तो अनुभव करने का विषय है, हल करने का नहीं। परन्तु विरोध की अनुभूति करना मन का काम नहीं है। प्रशान्त चित्त में ही यह विरोधानुभूति सम्भव होती है—यह चेतना को नवज्योति से भरती हुई उदित होती है।

गीता में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों शब्द सृष्टि और अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न स्वरों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है : ये शब्द बड़े लचीले हैं—कहीं वाणी और मूल प्रकृति के अर्थ में, तो कहीं जीव और उसके क्षेत्र के अर्थ में, और कहीं अहंकार और उसकी प्रवृत्तियों के अर्थ में भी प्रयुक्त हुए हैं। वस्तुतः क्षेत्र का अर्थ है अभिव्यक्ति, और क्षेत्रज्ञ का अर्थ है अनुभूति। गीता कहती है :

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।

—'प्रकृति अथवा द्रव्य, कार्य और कारण का हेतु कहलाता है, सुखदुःख के अनुभवों का हेतु पुरुष यानी आत्मा कहलाता है।'

इससे पहले के श्लोक में श्री कृष्ण कहते हैं कि 'समस्त विकार प्रकृति-जन्य हैं'। चूँकि विकारमात्र प्रवृत्ति से पैदा होते हैं, इसलिए प्रकृति ही कार्य और कारण का हेतु है। ये विकार प्रकृति की विशेष अवस्थायें हैं, क्योंकि द्रव्य अभिव्यक्ति का विषय है। फिर गीता कह रही है—'सुखदुःखों के भोग में पुरुष हेतु है।' यहाँ पुरुष शब्द अहंकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अगले श्लोक में यह अधिक स्पष्ट होता है :

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।

—'पुरुष प्रकृति में स्थित रह कर प्रकृतिजन्य गुणों का भोग करता है : इस के शुभाशुभयोनियों में जन्म का कारण गुणसंग है।'

यह श्लोक कह रहा है कि पुरुष शुभाशुभ योनियों में जन्म लेता है। गीता ने तो बार-बार कहा है कि आत्मा अजन्मा है, जन्ममृत्यु-रहित है। इस लिए

इस श्लोक में पुरुष का अर्थ निश्चय ही आत्मा से भिन्न है। यह ऐसा तत्व है जो जन्म-मृत्यु का विषय है। इसलिए हम समझ सकते हैं कि यहाँ पुरुष का अर्थ अहंकार है। इसी को बौद्ध धर्म में 'स्कन्ध' कहते हैं। मन के अपने अनुभवों के सारतत्व का नाम अहंकार है। और यही अहंकार सुख-दुख भोग का हेतु है। गुणासक्ति के अनुरुप शुभाशुभ योनियों मे जन्म लेनेवाला भी यही है।

गीता आत्मा के अलावा परमात्मा की, परम पुरुष की भी बात करती है। व्यक्ति के अन्दर जीव कहलाने वाला वास्तव मे परमात्मा ही है। इस परमात्मा के सम्बन्ध मे बोलते हुए गीता कहती है कि वह उपद्रष्टा है साक्षी है, अनुमत्ता है सम्मति देने वाला है, भर्ता है आधार है और भोक्ता है भोगने वाला है। सृष्टि के साथ परमात्मा का यह चतुर्विध सम्बन्ध विशेष महत्वपूर्ण है। निम्नतम अवस्था मे वह भोक्ता माना जाता है, क्योंकि व्यक्ति कहता है कि 'मैं भोगने वाला हूँ'। उससे ऊँची अवस्था मे वह भर्ता है, आधार है जहाँ आत्मा और द्रव्य का द्वैत अनुभव किया जाता है—आधार देने वाला और आधार लेने वाला, दो अलग-अलग हैं। इस के बाद अनुमन्ता की स्थिति आती है। इस में आत्मा शरीर को अमुक बात की अनुमति देता है; दोनों के बीच एक मौन सम्मति होती है। अन्त में उपद्रष्टा का सम्बन्ध आता है, जिसमें पुरुष केवल साक्षी होता है, मौन द्रष्टा रहता है। श्रीमति यच० पी० ब्लावेट्स्की ने अपनी पुस्तक 'वायस आफ दी सायलेंस' में आत्मा के आरोहण की प्रक्रिया को तीन दालानों की उपमा दी है। वे तीन दालान हैं—अज्ञान, ज्ञान और विज्ञान वे कहती हैं कि आत्मा इन तीन दालानों से होकर गुजरेगा तभी आनन्द धाम में प्रवेश कर पायेगा। इस उपमा में गीता द्वारा उल्लिखित शरीर और आत्मा के इन चतुर्विध सम्बन्धों मे सादृश्य दिखाई देता है। भोक्ता, भर्ता और अनुमन्ता की अवस्थाएँ ही क्रमशः अज्ञान, ज्ञान और विज्ञान हैं :आनन्द-धाम की अनुभूति तभी सम्भव है जब उपद्रष्टा की यानी साक्षी की स्थिति आती है। ये चारों प्रकार के सम्बन्ध क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच के ही सम्बन्ध हैं। जब उपद्रष्टा का यानी साक्षी का सम्बन्ध ज्ञात होता है तब मनुष्य परमात्मा को, जो कि महेश्वर है; जान सकता है। गीता का कहना है कि मनुष्य इसका साक्षात्कार ज्ञान से, भक्ति से या कर्म से– किसी से भी प्राप्त कर सकता है। निम्न श्लोक यही बात स्पष्ट करता है,

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।

—'कुछ लोग आत्मा को आत्मा में आत्मा से ध्यान के द्वारा देखते हैं, अन्य लोग सांख्ययोग के द्वारा, तो कुछ लोग कर्मयोग के द्वारा देखते हैं।'

यहाँ ध्यान शब्द का अर्थ है भक्ति और सांख्य का अर्थ है ज्ञान। महेश्वर दर्शन उसी को सम्भव है जो विनाशी में अविनाशी को देखता है: यह है नश्वर में शाश्वत का दर्शन। गीता कहती है:

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।

—'सर्वत्र समान रूप से अवस्थित ईश्वर को जो देखता है, वह आत्मा से आत्मा का हनन नहीं करता: इससे वह परम गति को प्राप्त होता है।'

'आत्मा से आत्मा का हनन' का क्या अर्थ है? आत्महनन का अर्थ है दृष्टि का धूमिल होना। दृष्टि तब धूमिल होती है जब मन अपने कार्यकलाप से धूल का बादल खड़ा कर देता है। मनुष्य सर्वनिवासी परमेश्वर के दर्शन करने लगता है—इसका अर्थ है उसका मन स्थिर, शान्त हो गया है। और, जिसका चित्त स्थिर और शान्त है वही परम गति को प्राप्त कर सकता है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या परमेश्वर सर्वत्र समान रूप से बसता है? क्या वह पापों की अपेक्षा सन्त पुरुष में अधिक अंशों में नहीं रहता? मनुष्य के मूल में ब्रह्मस्वभाव ही है। मूलतः, स्वभावतः ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं। अगर यह स्थिति है तो ब्रह्म सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है। मनुष्य-मनुष्य के बीच उसकी अभिव्यक्ति में अन्तर हो सकता है, परन्तु तत्त्वतः किसी भी व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार बाहर से अनेक विविधताओं के होते हुए भी उनके बीच जो व्यक्ति उस मूल एकता को देखता है, वही परम गति को प्राप्त करने योग्य होता है: एक बात निम्न श्लोक में स्पष्ट होती है:

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।

—'जब वह भूतों के नानात्व को 'एक' में अवस्थित देखता है, और सबको उसी का विस्तार देखता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त होता है।'

काल में कालातीत का साक्षात्कार करने का उपाय यही है कि 'स्थिति' और 'आकांक्षा' के वास्तविक सम्बन्ध को ठीक से समझें। होने और बनने के

सही स्वरूप को जान लें। यदि स्थिति अथवा होने पर से दृष्टि हट गयी, तो आकांक्षा अथवा बनने के प्रयत्न से निराशा ही हाथ आनेवाली है। इस अध्याय में प्रस्तुत विचार के अनुसार कहना हो तो यह कहा जा सकता है। कि आकांक्षा अथवा बनना 'क्षेत्र' है, और स्थिति अथवा होना 'क्षेत्रज्ञ' है। आकांक्षा की समूची प्रक्रिया में सदा स्थिति रहती है, बनने के बीच होना हर क्षण रहता है, परन्तु उसकी उपस्थिति इतनी सूक्ष्म है कि मनुष्य उसे पहचान नहीं पाता। गीता कहती है :

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।

—'हे भारत, जिस प्रकार एक सूर्य इस समस्त विश्व को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार यह क्षेत्र का स्वामी समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है।'

'स्थिति' 'आकांक्षा' के समूचे क्षेत्र को प्रकाशित करती है। आकांक्षा के अन्धकार के बीच जो मनुष्य स्थिति का प्रकाश देख पाता है, वही सच्चा ज्ञानी है। स्थिति की अनुभूति में स्थिर रहते हुए आकांक्षा की विविध अभिव्यक्तियों में वह संचार करता है। आकांक्षा कालगत है, परन्तु कालातीत का स्पर्श होते ही काल की अवरोधक शक्ति समाप्त हो जाती है और वह कालातीत ही 'स्थिति' है। गीता हमें बता रही है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।

—'इस प्रकार जो ज्ञानचक्षुओं से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा भूतों की प्रकृति से मुक्ति को देखते हैं, वे 'पर' को प्राप्त होते हैं।'

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जानने का अर्थ यही नश्वर के बीच शाश्वत को देखना है। यही ज्ञान 'भूतों' को प्रकृति से मुक्त करानेवाला है। यह मुक्ति सर्व-सुलभ है, यहीं और अभी किसी को भी प्राप्त हो सकती है। परन्तु इसके लिए मनुष्य में संवेदनशक्ति की वृद्धि होनी चाहिए, क्योंकि संवेदनशील मनुष्य ही अतीन्द्रिय तत्त्व के दर्शन कर सकता है। संवेदनशीलता सावधानता से भिन्न नहीं है, और गीता इस सावधानता की वृद्धि के उपायों का विवेचन-अभ्यासयोग' (प्रैक्टिकल योग) के द्वारा कर रही है और अगले पाँचों अध्यायों में इसी अभ्यास योग की चर्चा है।

●

चर्तुदश अध्याय

संस्कार मुक्त प्रतीति

योगसूत्रों के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने योग की व्याख्या करते हुए कहाँ है कि चितवृत्तियों के निरोध का नाम योग है। जो चित्त विविध वृत्तियों के अधीन है वह विक्षिप्त और विक्षुब्द चित्त है, क्योंकि वृत्तियों के कारण अन्तर्बाह्य अशान्ति अनिवार्य है। वृत्तियों के निरोध के लिए मनुष्य को ब। को या गुफाओं की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। यों बन में जाने से बाह्य अशान्ति के कारण उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ शान्त भले हो जायें, परन्तु आन्तरिक क्षोभ निर्माण करनेवाली वृत्तियाँ बनी ही रहेंगी। वास्तव में चित्त-वृत्तियों की समस्या बड़ी जटिल है, क्योंकि चित्त का कार्य केवल उपरी धरातल पर नहीं होता, बल्कि बहुत गहरा भी होता है और उस गहराई के भी कई स्तर रहते हैं। जब तक मनुष्य चित्त की चेतना अवस्था का' अव-चेतन अवस्था का तथा अचेतन अवस्था का भी ठीक से विचार नहीं कर लेता, तब तक चित्तवृत्तियों की समस्या का सामाधानकारक हल प्राप्त नहीं हो सकता। पतंजलि वृत्तियो के पाँच प्रकार बताते हैं और ये हैं—प्रमाण विपर्यय, विकल्प,निद्रा और स्मृति। इन्हें हम यथाक्रम युक्तियुक्त चिन्तन, आवेगयुक्त चिन्तन, कल्पना, नींद और स्मरण कह सकते हैं। युक्तियुक्त चिन्तन और आवेगयुक्त चिन्तन दोनों चेतन मन के काम हैं, कल्पना अवचेतन मन का काम हैं, क्योंकि उसी में भावसाहचर्य का तत्त्व (फैक्टर आफ असोसियेशन) विद्यमान है। निद्रा और स्मृति दोनों व्यक्ति की अचेतनावस्था के काम है। इस प्रकार पंचविध वृत्तियों मे पतंजलि ने चित्त की चेतन अवचेतन तथा अचेतन तीनों अवस्थाओं का समावेश किया है। योगाभ्यास में मनुष्य को चित्त के सभी पहलुओं पर, सारे ही स्तरों पर विचार करना होता है, अन्यथा चित्तवृत्तियों का निरोध असम्भव है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि चित्त-वृत्तियाँ मनुष्य की चेतना पर पड़ने वाले संस्कारों के कारण उत्पन्न होती हैं। संस्कारयुक्त चित्त में वृत्तियाँ निरन्तर बनती-मिटती रहती हैं। इस लिए वृत्तियों के निर्माण का कारण इन्हीं संस्कारोत्पादक तत्वों में ही खोजना होगा।

चित्त पर संस्कार कहाँ से और कैसे आते हैं ? संस्कारमुक्त होने की प्रक्रिया क्या है ? इन्ही व्यावहारिक और बुनियादी प्रश्नों का विचार योग में तथा अन्तर्मनोविज्ञान में (डेप्थ सायकोलाजी) किया जाता है। मानव-जीवन की इस अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या पर गीता ने काफी प्रकाश डाला है। श्री कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं :

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।

—'सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं जो प्रकृति से उत्पन्न होते हैं : हे महाबाहु, ये अविनाशी देही को देह में बाँधते हैं।'

इस श्लोक के अनुसार सत्व, रज और तमोगुण चित्त के बन्धन के कारण हैं। ये तो चित्त के ही गुण हैं। इनका अर्थ है, समता, गति और जड़ता। चूँकि ये चित के बन्धनकारक हैं' इस लिए योगाभ्यासी लोग अपने चित्त को पहले बन्धनो से मुक्त करने का प्रयास किया करते हैं। इस प्रकार बन्धनों से मुक्त जो स्थिति होगी उसे गीता ने 'गुणातीत' नाम दिया है, जिसका अर्थ है तीनो गुणो से परे। गीता ने गुणों के लक्षणों, तथा चित्त को बन्धन में डालनेवाले उनके कार्यों का बड़ा स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रत्येक गुण चित्त में अपनी एक आसक्ति निर्माण करता है जिससे चित्त की दर्शन शक्ति दूषित हो जाती है। श्री कृष्ण कहते हैं :

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ।

—'हे निष्पाप अर्जुन, उन में से जो सत्व गुण है वह निर्मल होने के कारण प्रकाशक है, आरोग्य कर है। वह मनुष्य को सुख और ज्ञान की आसक्ति में बाँधता है।'

सत्व समता का गुण है, शुभ गुण है। सात्विकता में सदा 'मैं' की भावना प्रबल रहती है। सत्व मन के द्वन्द्व के बीच प्रस्थापित सामंजस्य अथवा समन्वय का नाम है। यह दो विपरीत अवस्थाओं में जो भी समानताएँ हैं उनके आधार पर कल्पित होता है। इसमें मन की निश्चयता की, अखण्डता की सूक्ष्म प्रक्रिया झलकती है। द्वन्द्वों के संघर्ष के कारण मन आशंकित हो उठता है, उसका आश्वासन

धुंधुला होने लगता है फिर भी वह द्वन्द्वों को छोड़ नहीं पाता, क्योंकि द्वन्द्व ही मन के संचार क्षेत्र हैं। जब तक वह अपने द्वन्द्वों को बनाये रखता है तब तक बीच-बीच में उन मे विचरण करने की भी उसे सहज ही इच्छा होती रहती है। दोनो बिन्दुओं के मध्य होनेवाले इस संचार की अवस्था सत्व की अवस्था है। उसमें कुछ समय के लिए द्वन्द्व नियंत्रित रहते हैं। सत्व द्वन्द्व के बीच सन्तुलन का द्योतक है, उनसे परे होने का नहीं। सन्तुलन बड़ा नाजुक होता है, बड़ी आसानी से डगमगाने लग जाता है। समन्वय जहाँ हुआ, वहाँ उसके साथ एक सिद्धान्त निकलता है जिसका एक प्रतिसिद्धान्त भी पैदा होता है और फिर उन दोनों के बीच संघर्ष आरम्भ होता है। गीता कह रही है कि सत्व मनुष्य को सुखसंग से और ज्ञान-संग से बाँधता है। ज्ञान की भूमि विचार है और सुख की भूमि भावना है। विचार और भावना मन के दो विपरीत बिंदु हैं। तो, चित्त जो समन्वय सोचेगा, वह विचार की भाषा में और भावना की भाषा मे ही सोचेगा। इस प्रकार सत्व में विचारसमन्वय से अथवा भावनासमन्वय से ज्ञान और सुख की प्राप्ति से उत्पन्न होनेवाली आसक्ति का बंधन होता है। सत्व चित्त की कृत्रिम अवस्था-विशेष है; देखने को बहुत रमणीय है, पर गंध विहीन है। चित्त के सारे ही गुण इसी तरह निर्गन्ध-कुसुमवत् हैं। इस प्रकार सत्व को हम चित्त का उदात्त गुण कह सकते हैं। उसमें सात्विकता अवश्य दिखाई देती है, परन्तु उसके द्वारा स्थापित होनेवाला साम्य अस्थायी है, उसमें द्वन्द्वातीतता नहीं है।

रजोगुण का विश्लेषण करते हुए श्री कृष्ण कहते है :

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्।

—'रजोगुण को रागात्मक और तृष्णा तथा आसक्ति से उत्पन्न समझो। हे कौन्तेय, रजोगुण देही को कर्म की आसक्ति से बाँधता है।'

जहाँ सत्व द्वन्द्वसमता है, वहाँ रज द्वन्द्वों का संघर्ष है। इसका मूल कुछ 'बनने की आकांक्षा में है। चित्त 'स्थिति' से हट कर 'आकांक्षा' की ओर दौड़ता है; वह जो 'है,' उसको छोड़कर जो 'होना' चाहता है उसकी ओर जाता है। यह संचार ही उसके नित्यसंघर्ष का मूल कारण है। बनने की प्रक्रिया का कहीं अन्त नहीं है और यही चित्त की कर्मशीलता का मूल आधार है। इसलिए कर्म चित्त को बन्धन में डालनेवाला है।

चित्त का तीसरा गुण है तम जिसका अर्थ जड़ता है। इसके सम्बन्ध में बोलते हुए गीता कहती है :

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।

—'हे भारत, अज्ञान से समुत्पन्न तमोगुण को समस्त देहियों को मोहवश करनेवाला समझो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा में बांधता है।'

तमोगुण में द्वन्द्वों के विषय में भ्रम रहता है, क्योंकि उसमें स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता है। द्वन्द्व का विवेचन करने के लिए चित्त को सजग और उद्यत रहने की आवश्यकता है, किन्तु तमोगुण के रहते यह विवेक सम्भव नहीं है, क्योंकि उस में चित्त प्रमाद और जड़ता से ग्रसित होता है। जड़तायुक्त चित्त कोई निर्णय नहीं कर सकता। वह प्रत्येक परिस्थिति में अपने चिरपरिचित और सु-अभ्यस्त मार्ग से चलते रहना पसंद करता है।

इस प्रकार तम, रज और सत्व गुणों का अर्थ है द्वन्द्वमोह, द्वन्द्वसंघर्ष द्वन्द्वसमता। तमोगुणी व्यक्त संवेदनहीनता के कारण उदासीन मनोवृत्ति का हो जाता है। प्रायः हम उदासीनता को ही निर्लिप्तता समझने की भूल करते हैं। परन्तु इन दोनों में किसी भी प्रकार की समानता नहीं है। निर्लिप्तता तो संवेदनशीलता से निष्पन्न होती है। संवेदनशील व्यक्ति इस बात से शंकित रहता है कि उस के हस्तक्षेप के कारण दूसरे का विकास कहीं अवरुद्ध न हो जाय। परन्तु उदासीनता ऐसी स्थिति है जिसमें दूसरे व्यक्ति का ख्याल तक नहीं रहता। वह दूसरे के अस्तित्व को भले जानता हो, पर उस की सूक्ष्म भावनाओं और आन्तरिक भावों से सर्वथा अनभिज्ञ होता है। सत्व रज और तम के निष्कर्षों, संघर्षों और आदतों के कारण चित्त का बन्धन निर्माण होता है।

सत्व, रज, और तमोगुण के विवेचन के प्रसंग में गीता ने तीन मूलभूत मनोवृत्तियों का निर्देश किया है। तीनों गुण प्रत्येक मनुष्य में है। परन्तु कोई किसी में अधिक है तो किसी में कम, इसी कारण मानव-मानव की चित्तवृत्ति विभिन्न दिखाई देती है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के अलग-अलग क्षेत्र हैं : किसी क्षेत्र में तमोगुण अधिक रहता है, किसी में रजोगुण अधिक सक्रिय होता है, तो अन्य किसी में सत्व प्रमुख होता है। मनुष्य का विकासक्रम देखें तो उस

में भी दिखाई देता है कि पहले द्वन्द्वमोह यानी द्वन्द्वविषयक भ्रान्ति रहती है, फिर उनके संघर्ष के मार्ग से द्वन्द्व-समता की ओर उसका प्रवास चलता है। गीता में इन तीनों गुणों के कामों का सुन्दर वर्णन श्री कृष्ण कर रहे हैं और यह बता रहे हैं कि किस गुण के प्रमुख होने पर मनुष्य क्या करता है। सत्व के संबन्ध में श्री कृष्ण कहते हैं :

> सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते
> ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।

—'इस शरीर में जब सभी द्वारों से ज्ञान का प्रकाश बढ़ आता है तब समझना चाहिए कि सत्व की वृद्धि हो रही है।'

हम ने देखा कि सत्व द्वन्द्वसमता का द्योतक है। यह स्वाभाविक है कि जब चित्त में साम्य आता है तब सात्विकता बढ़ती है, सत्व की वृद्धि होती है। गीता यह जो शब्द-प्रयोग कर रही है की 'सत्व की वृद्धि होती है' इसी से स्पष्ट है कि यहाँ 'परिमेय' वस्तुओं का विचार चल रहा है। परन्तु सात्विकता को कैसे नापें? इसमें कोई शंका नहीं कि गीता यहाँ सत्व के आकार की बात कर रही है, प्रकार की नहीं। सत्व निश्चित ही अपरिमेय है, 'कम और अधिक' की परिभाषा में उसे नापा नहीं जा सकता। परन्तु सात्विकता नापी जा सकती है। गीता कह रही है चित्तसाम्य स्थापित होने पर सात्विकता में आमूल परिवर्तन होता है। सात्विकता का अर्थ है नैतिकता का सर्वमान्य आधार। इसलिए द्वन्द्वसमता से फलित होनेवाली सात्विकता नैतिकता के स्तर से परे नहीं हो सकती। डा॰ राधाकृष्णन् गीता को अपनी व्याख्या में कहते हैं—

"सात्विकता भी अपूर्ण होती है, क्योंकि उसे अपने प्रतियोगी गुणों से संघर्ष करना पड़ता है। संघर्ष समाप्त होने पर ही सात्विकता निरपेक्ष और असीम होती है और तब वह नैतिक बन्धनों से परे होती है।"

जब हम द्वन्द्वसमता की बात करते हैं तब यह भूलना नहीं चाहिए कि हम द्वन्द्वजगत् में विचरण कर रहे हैं। द्वन्द्वों के बीच समता स्थापित करने के लिए कुछ तो प्रयास करना ही होता है। सत्वावस्था में द्वन्द्वों को काल और देश के व्यवधान से एक-दूसरे से अलग किया जाता है। यह व्यवधान न हो तो साम्य की स्थिति आ नहीं सकती। इस प्रकार की नीतिमत्ता में यही द्वन्द्वसमता गोचर

होती है। इसमें मनुष्य की बहुत बड़ी शक्ति व्यय होती है। नैतिकता बड़ी आग्रही होती है; मनुष्य के पास जितनी भी शक्ति है वह सब उसमें लगती है। इसमें कोई शंका नहीं कि सत्वावस्था अथवा सात्विकता उपादेय है, परन्तु मनुष्य को उससे भी परे होना है, ताकि नैतिक द्वन्द्वों को पार किया जा सके और आध्यात्मिक शान्ति और मुक्ति प्राप्त किया जा सके। डा० राधाकृष्णन् कहते हैं: "सत्व के बल पर हम रज और तम को पार करते हैं और फिर सत्व को भी पार कर जाते हैं।" सात्विक पुरुष को सत्पुरुष बनना है; क्योंकि सत्पुरुष त्रिगुणातीत होता है।

आगे गीता कहती है कि मनुष्य में जब रजोगुण की वृद्धि होती है, वही जब प्रमुख बनती है तब उस मनुष्य में 'लोभ, प्रवृत्ति, आरम्भ, अशांति, ईर्ष्या और लालसा, उत्पन्न होती है। हम ने देखा कि रजोगुण का अर्थ है द्वन्द्वसंघर्ष। इस संघर्ष को प्रेरणा 'कुछ बनने की आकांक्षा' से मिलती है। इसी प्रेरक गुण को गीता ने 'लोभ, प्रवृत्ति, कर्मारम्भ, अशान्ति, ईर्ष्या, लालसा" कहा है। प्रवृत्ति आवश्यक है, इसमें शंका नहीं, परन्तु प्रश्न यह है कि प्रवृत्ति के लिए विवश करनेवाली शक्ति कौनसी है?

तमोवृद्धि का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं—'अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह' तामसी व्यक्ति के प्रधान लक्षण हैं। जीवित रहने के लिए स्थैर्य एक आवश्यक गुण है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु प्रश्न यह है कि स्थैर्य बनाये रखनेवाला गुण कौनसा है? क्या वह अप्रवृत्ति और प्रमाद है? या वह स्थिरता है जो प्रगाढ मौन (डीप सायलेन्स) से उत्पन्न होती है? जड़ चित्त की कर्महीनता को ही अक्षोभ समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। अक्षोभ तो संवेदनशील चित्त का लक्षण है।

गीता साधक से निश्चित कह रही है कि वह यदि विशुद्ध और संस्कारमुक्त आत्मबोध प्राप्त करना चाहता है, तो उसे तीनों गुणों से, मानो सत्व से भी परे होना ही होगा। जैसे, श्री कृष्ण का कथन है:

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।

—'देहधारी यदि सत्व के प्रवृद्ध रहते मृत्यु पाते हैं तो श्रेष्ठ ज्ञानियों के निर्मल लोकों में जाते हैं।"

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए डा० राधाकृष्णन् कहते हैं कि ये लोग 'मुक्त नहीं होते हैं, ब्रह्मलोक में जन्म लेते हैं। मुक्ति तो निस्त्रैगुण्य है, त्रिगुणातीत अवस्था है।' इस प्रकार सात्विक पुरुष कुछ अवधि तक दिव्य लोक में निवास करने के बाद पुनः मर्त्यलोक में जन्म लेने के लिए बाध्य हैं। जो व्यक्ति त्रिगुणातीत होता है, उसके लिए फिर जन्म और मृत्यु की आवश्यकता नही रह जाती। आध्यात्मिक जीवन में किसी भी प्रकार की बाध्यता का नाममात्र भी नही होता। बाध्यताएँ तो नैतिक जीवन में हुआ करती हैं। श्री कृष्ण ने निम्न श्लोक में गुणनिस्तार के समूचे प्रश्न का संक्षिप्त, किन्तु स्पष्ट व्याख्या दी है :

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।

—'जब द्रष्टा देखता है कि तीनो गुणो के सिवाय अन्य कोई कर्ता नही है और तीनों गुणों से अति परे हुआ परमात्मा को तत्व से जानता है उस काल में वह द्रष्टा मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

यह देखना कि गुणों से कर्ता भिन्न है, सही देखना है। यह वह दर्शन है जो आत्मलक्षिता से सर्वथा मुक्त है। जब मनुष्य यह देख पाता है कि गुण गुणों में काम कर रहे हैं, वही गुणातीत को देख सकता है। हमारे साथ कठिनाई यह है कि गुणों के काम में हम अपने को जोड़ लेते हैं। जड़ता, गति और समता के साथ जो कि गुणमूलक अवस्थाएँ हैं हम स्वयं तद्रूप हो जाते हैं। गुणों को ही कर्ता समझने का अर्थ है उन गुणों के कर्म से अपने को पृथक कर लेना। इस दर्शन में मनुष्य को यह प्रतीत होने लगती है कि उसका निज स्वरूप तो गुणों से परे और गुणों से श्रेष्ठ है।

यहाँ अर्जुन गुणों के सम्बन्ध में तथा गुणनिस्तार के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न पूछता है। प्रश्न यह है—

—'हे भगवान् जो त्रिगुणातीत हैं उसके लक्षण क्या हैं? उसका आचरण कैसा होता है? वह कैसे तीनों गुणों को पार करता है?'

कैर्लिंगैस्त्रीगुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।

इन प्रश्नों के उत्तर में श्री कृष्ण जो लक्षण बता रहे हैं वे द्वितीय अध्याय के स्थितप्रज्ञ और द्वादश अध्याय के भक्त के लक्षणों जैसे ही हैं। हम चाहे ज्ञानमार्ग से चलें, भक्तिमार्ग से चले या कर्ममार्ग से चलें पूर्णता की स्थिति तो सबकी समान ही है। इस अध्याय में श्री कृष्ण कह रहे हैं :

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।

—'हे अर्जुन यह पुरुष प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्ति होने पर उनसे द्वेष नहीं करता है, न उनके नष्ट होने पर उनकी कामना करता है।'

सत्व, रज, तम से द्वेष करने का अर्थ क्या है? गुण तो प्रकृतिधर्म हैं वे जब काम करने लगते हैं तब तीनों में से कोई एक प्रधान होता है। जब तीनों समान होते हैं तब वे प्रकट ही नहीं होते है। प्रकट होने के लिए किसी एक को प्रधान होना पड़ता है। यानी प्रकट होने की प्रक्रिया में इन तीनों का अनुपात न्यूनाधिक होता ही है। इन तीनों गुणों के बदलते सम्बन्धों में जीवन का सारतत्व प्रतिबिम्बित होता है। जीवन जैसा है वैसा ही उसे स्वीकार करने का अर्थ है कर्त्ता के लेशमात्र हस्तक्षेप के बिना गुणों को अपने स्वभावानुसार काम करने देना। जीवन के उतार-चढाव की अपनी एक लय होती है, ताल होता है, उस लय को, उस ताल को अबाध चलते रहने देना ही गुणों को पार करना है। यह विचार निम्न श्लोक में स्पष्ट किया गया है :

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते।

—'जो उदासीन के समान रहता है, गुणों के कारण विचलित नहीं होता, यह जान कर कि गुण ही काम करते हैं, जो अचल खड़ा रहता है, और अलग रहता है।'

यह गुणातीत पुरुष का लक्षण है। वह पुरुष कभी विचलित नहीं होता, निश्चिन्त रहता है। गीता ने उसे उदासीन कहा है उस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं होता, कोई बाध्यता नहीं होती और इसलिए वह अचल है। अलग होकर यह देखना कि अपने अन्दर गुण काम कर रहे हैं, उन्नत आध्यात्मिक अवस्था है। स्वभाव को देखना भी, और उससे अलग भी रहना : कर्मों को देखना भी और अपने को उन का अकर्ता भी देखना : गुणधर्मों को देखना

भी और उनको अपना न भी मानना-यह उस पुरुष का लक्षण है जो समस्त संस्कारों और सारे बन्धनों से मुक्त हो चुका है। उस के बारे में गीता कहती है :

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो : ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।

—'जो मान और अपमान को समान देखता है, मित्र और शत्रुपक्ष को समान मानता है, आरम्भमात्र का त्याग करता है—वह गुणातीत कहलाता है।'

जो मनुष्य बन्धनहीन है वह आरम्भमात्र से विरत होता है—यह अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति का बड़ा विलक्षण लक्षण है। लेकिन आरम्भ-परित्याग का अर्थ निष्क्रिय और अलस रहना नहीं है, न कर्म से भागना ही है। आरम्भ करने में सदा सामने एक न एक हेतु होता है, फल-प्राप्ति की दृष्टि रहती है। जो मनुष्य अमुक फल प्राप्त करने के लिए जीता है उसका जीवन, जीवन नहीं है। वास्तविक जीवन में आरम्भ और अन्त दोनों एकसाथ वर्तमान क्षण में होते हैं। गुणातीत पुरुष ऐसे किसी हेतु या प्राप्ति के लिए नहीं जीता है। वह फलार्थी नहीं होता है, इसीलिए उसका जीवन परम सार्थक होता है। महान् चीनी तत्वज्ञानी लाओत्जे कहता है :

"शिशु जब खेलता है तब वह नहीं जानता कि वह बन्धन में है : और जब वह विश्राम करता है तब नहीं जानता कि वह कुछ कर रहा है : परन्तु वह अनजाने ही परिसर परिस्थितियों से एकरूप हो जाता है। यही जीने की कला है।"

निर्मल, निर्दोष, अबोध जीवन ही नैसर्गिक जीवन है। उस में कोई प्रयास नहीं है; न किसी प्रकार की फल-प्राप्ति या हेतुसिद्धि का प्रयत्न है। गुणों को अपने स्वभावानुसार काम करने देना, फिर भी उन कामों से स्वयं अस्पृष्ट रहना—यही द्वन्द्वातीतता की उन्नत अवस्था है। द्वन्द्वसमता में यह बात नहीं है। सत्व, रज, तमो गुणों के कामों के प्रति सजग रहना, उन में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचाना—यही समस्त बन्धनों से मुक्ति पाना है। यह अवस्था चित्त की अत्यन्त विशुद्ध और ऋजुतायुक्त अवस्था है, सहज सरल अवस्था है जिसमें परमात्मा के सूक्ष्मतम स्पर्श का भी अनुभव करने की क्षमता है।

पंचदश अध्याय

विकारी, अविकारी और अविनाशी

हिन्दू-धर्मग्रन्थों और पुराणों में हजारों वर्षों से दो महापुरुषों का वर्णन बराबर चलता आया है जो जनमानस में सहज श्रद्धा और हार्दिक प्रेम के पात्र रहे हैं। वे हैं श्री राम और श्री कृष्ण। श्री राम को मर्यादापुरुषोत्तम कहा जाता है, जिसका आशय है कि वह परमेश्वर का अंशावतार हैं; और श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम कहा जाता है, जिसका आशय है कि वह परमेश्वर का पूर्णावतार हैं। इन दोनों में बड़ी भिन्नता है। एक में नैतिकता और सदाचार का प्राधान्य है, और दूसरे में परम आनन्द और अलौकिकता की प्रमुखता है। श्री राम गूढ़विद्या -परम्परा की पूर्णता का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो श्री कृष्ण आत्मविद्या-परम्परा की पूर्णता के प्रतीक हैं। इन दोनों दिव्य पुरुषों में दिव्यत्व की दो मूल धाराओं की पूर्णता के दर्शन होते हैं—एक रहस्यविद्या की और दूसरी अध्यात्मविद्या की। भगवद्गीता के विश्वरूपदर्शन में तथा विभूतियों में इन दोनों पहलुओं का विचार किया गया है। इनके अलावा गीता उस परतत्व की तीन कोटियाँ प्रस्तुत कर रही है, और वे हैं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम; अर्थात् विकारी, अविकारी और परमात्मा या ब्रह्म। क्षर तत्व भौतिक तथा अतिभौतिक परिवर्तनशील पदार्थों में गोचर होता है, मूल द्रव्य अक्षर तत्व बतलाये गये हैं और ब्रह्म ही परमात्मा है। विकारी और विकारी दोनों अन्तस्तत्व हैं, और ब्रह्म समस्त व्यक्त सृष्टि से परे है। क्षर और अक्षर दोनों नामरूपात्मक विश्व से सम्बन्धित हैं—एक परिणामी है, और दूसरा अपरिणामी। परन्तु परमात्मा रूपातीत है। गीता कहती है

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च
> क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।

—'इस लोक में दो पुरुष हैं: एक क्षर है और दूसरा अक्षर। भूतमात्र क्षर है, अक्षर कूटस्थ है। उत्तम पुरुष इनसे सर्वथा भिन्न है जो परमात्मा

कहलाता है, जो तीनों लोकों में व्याप्त हो कर उनका धारण करता है, वह अविनाशी ईश्वर है।'

भगवद्गीता ने क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—तीनों को पुरुष कहा है। इनमें अविकारी को कूटस्थ नाम दिया है। इसका शब्दार्थ है 'गड़ा हुआ।' कूटस्थ का यह भी अर्थ होता है 'गूढ़ आवरण में छिपा हुआ'; अथवा माया से आवृत। अविकारी तो मूलद्रव्य है, क्योंकि वह अपरिणामी है। वह निश्चित ही माया से आवृत है, क्योंकि वह दिव्य चित्त (डिवाइन माइण्ड) का प्रक्षेप है। अविकारी अपरिणामी तो है, लेकिन अविनाशी नहीं है क्योंकि सृष्टि के प्रलय के साथ वह भी विलीन हो जाता है। जीव को अपनी सृष्टि के साथ नये मूल द्रव्यों का सृजन कर लेना होता है जो सभी सृष्ट पदार्थों का अन्तिम स्थान बनता है। इसलिए विनाशशीलता विकारी और अविकारी दोनों के लिए अपरिहार्य है। परन्तु पुरुषोत्तम अविनाशी है। वह ब्रह्म है, जो सारे सृष्ट पदार्थों में व्याप्त है।

गीता इस पन्द्रहवें अध्याय में सृष्टि को अश्वत्थ वृक्ष के रूप में प्रस्तुत कर रही है जिसकी जड़ ऊपर है और शाखाएं नीचे फैल रही हैं। हम लोग जीवन का मूल इस भौतिक जगत् में खोजते हैं। जीवन विकास की प्रक्रिया का वर्णन जीवन संघर्ष के रूप में करते हैं। परन्तु जीवन का शाश्वत सिद्धान्त यह है कि शरीर कर्मनियत है; कर्म पहले हैं, शरीर बाद में। जीवन का निर्वचन शरीर के पृथक्करण से होने वाला नहीं है। ऊपर की प्रेरणा है जो नीचे की सृष्टि को जन्म देती है। प्लेटो ने अपने निम्न कथन में इसी जीवन-वृक्ष की ओर संकेत किया है—

"जहाँ तक हमारे आत्मा के प्रमुख अंग का प्रश्न है, हमें उस की यह रीति समझनी चाहिए कि भगवान् ने अपने दानवों के ही समान हमें भी इस प्रकार का आत्मा प्रदान किया है जिसका निवास हमारे शरीर के ऊर्ध्वभाग में है और वह यह जानते हुए कि हम धरती के नहीं, स्वर्ग के पौधे हैं, हमें धरती से स्वर्ग की ओर बढ़ाता है।"

जीवन का अर्थ और जीवन का महत्व धरती को खोदने से नहीं, स्वर्ग पर चढ़ने से अवगत होता है। जीवन के सम्बन्ध में गीता कहती है :

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो नचादिर्न च सम्प्रतिष्ठा

—'उस का न तो रूप यहाँ अवगत होता है, न आदि, न अन्त, और न ही उसका मूल अधिष्ठान ज्ञात होता है।'

जीवन का रहस्य न विकारी में उपलब्ध होता है, न अविकारी में! केवल अविनाशी ब्रह्म में ही है और वही जीवन को जानने की कुंजी है।

परन्तु उस अविनाशी को कैसे प्राप्त किया जाय? *गीता कहती है :*

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै
—र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।

—'जो अभिमान और अज्ञान से मुक्त हैं, आसक्तिरूप दोष को जिन्होंने जीत लिया है, जो नित्य आत्मा में अवस्थित हैं जिन की कामनाएँ निवृत्त हो गयी हैं, जो सुख-दुखात्मक द्वन्द्वों से विमुक्त हैं और जो असम्मूढ हैं, वे उस अक्षय स्थान को प्राप्त होते हैं।'

गीता में कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का बार-बार उल्लेख मिलता है। किन्तु यह पुनरुक्ति नहीं है, बल्कि इससे श्री कृष्ण उन सिद्धान्तों को यथासम्भव विभिन्न पहलुओं से उपस्थित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। उपर्युक्त श्लोक में हम पुनः देख रहे हैं कि द्वन्द्वमुक्ति पर बल दिया जा रहा है। द्वन्द्वों से परे होने का अर्थ है मन के क्षेत्र को लाँघ जाना। द्वन्द्वों के अस्तित्व से कोई इनकार नहीं कर सकता। वे या तो आपस में संघर्षरत रहेंगे या प्रकाश और छाया के समान एक दूसरे का अनुवर्ती होते हुए, साथ-साथ रह कर, धरती की श्रीवृद्धि करते रहेंगे। प्रकाश और छाया न हों तो धरती सपाट दीखने लगे, शून्य हो जाय, और उसका कोई अपना स्वरूप ही न हो। इसी प्रकार जीवन भूमि को भी इसी द्वन्द्व-रूप प्रकाश और छाया के कारणस्वरूप मिला है। इसी प्रकाश और छाया के सहारे उस की स्थिति (पोजिशन) और गहराई का स्पष्ट बोध होता है। किसी का भी स्वरूप निर्धारण करने वाले मूल तत्व ये ही दो हैं: स्थिति और गहराई। परन्तु जीवन में प्रकाश और छाया प्रायः परस्पर विरोधी से प्रतीत होते हैं। इसका कारण है मन और उसकी गतिविधियाँ। द्वन्द्वों के इस संघर्ष को सह-अस्तित्व में बदलने का अर्थ है मन का मनस्त्व मिटा देना। परन्तु यहाँ सह-अस्तित्व का अर्थ यह नहीं कि दो वस्तुओं को साथ-साथ जोड़ा जाय यहाँ तो दोनों के बीच

द्वैत कायम रहते हुए भी दोनों परस्पर एक-दूसरे में संक्रांत रहते हैं, दोनों एक दूसरे में ओतप्रोत रहते हैं। गीता के कथनानुसार मान और मोह से मुक्त रहना उस अविनाशी से युक्त होने का उपाय है। अभिमान उत्पन्न होता है ज्ञान से, और मोह निष्पन्न होता है अज्ञान से। इसलिए मान-मोहमुक्त विशुद्धि का अर्थ है न ज्ञान न अज्ञान। ज्ञान के कारण बुद्धि में गर्व उत्पन्न होता है, बुद्धि आक्रामक बनती है; और अज्ञान के कारण बुद्धि का तेज नष्ट होता है, बुद्धि मन्द होती है। बुद्धि जब शुद्ध होती है, अभिमानशून्य होती है तभी वह अ-भावात्मक हो पाती है। यह अ-भावात्मक अथवा संवेदनशील बुद्धि ही अविनाशी अवस्था को प्राप्त कर सकती है।

गीता कहती है: यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः—'जिसमें जाने वाले फिर लौट कर नहीं आते।' यह अविनाशी स्थिति की अनुभूति ऐसी है कि वह प्राप्त हो जाने पर मनुष्य वही नहीं रह जाता जो वह पहले था। भले ही वह स्थिति मुहूर्तमात्र ही क्यों न रही हो, परन्तु उसका स्थायी प्रभाव सम्पूर्ण चित्त पर गहरे अंकित हो जाता है। अध्यात्म जीवन से सम्बन्धित एक अमूल्य ग्रन्थ 'लाइट आफ दि पाथ' में कहा गया है: "मौन भले ही क्षणार्ध ही रह पाये या सहस्रों वर्षों तक रहे पर वह स्थायी परिणामकारी होता है; अन्त तक उसका बल तुझे प्राप्त होता रहता है,"

जिसे वास्तविक आत्मानुभूति प्राप्त हो गयी, उसके लिए पुनरावृत्ति नहीं है। अविनाशी स्थिति प्राप्त करना यानी सर्वथा निर्दोष होना यह कालातीत अवस्था है; इसे काल के पैमाने से नापा नहीं जा सकता। एक बात निश्चित है, कालातीत अनुभूति लेकर जो पुरुष काल के क्षेत्र में आता है, तो वह अपने साथ नया गुणधर्म लेकर आता है, उसकी जीवन सुरभि कुछ और ही होती है। वह अपने नित्य जीवन को नया आयाम देता है, उसे वह दिव्य रूप देता है, जो कि उसे उस अविनाशी स्थिति से प्राप्त हुआ है।

विनाशी के भीतर सदा अविनाशी रहता ही है। यद्यपि हमारे पास आँख है, फिर भी हम उसे नहीं देखपाते, यद्यपि हमारे पास कान हैं, फिर भी हम उसे सुन नहीं सकते। गीता कहती है।

> ममैवांशो जीवभूतः सनातनः
> मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।

—'मेरा ही सनातन अंश जीव लोक में जीव बन कर प्रकृतिगत इन्द्रियों को—जिनमें छठा मन भी है—आकर्षित करता है।'

इस प्रकार समस्त रूपों में विद्यमान धारक तत्त्व उसी दिव्य तत्त्व का अंश है; क्योंकि वही इन्द्रियों और मन के द्वारा निर्मित नामरूपात्मक समस्त सृष्टि में समान रूप से व्याप्त है। परन्तु प्रायः हम उस रूप को ही देख कर रह जाते हैं, उसमें विद्यमान उस दिव्यांश को चूक जाते हैं। और उस दिव्यांश के अभाव में सारा संसार निर्जीव है, सारा रूप निष्प्राण है। गीता कहती है कि वही अंश जीवभूत होता है, जीवात्मा का रूप धारण करता है। इस प्रकार समस्त पदार्थों का जीवनधर्म उस दिव्यांश से ही निष्पन्न है। जीवनी शक्ति निर्माण करनेवाले उस अंश को जो नहीं देख पाते, उन्हें गीता 'विमूढ' कह रही है। अर्जुन से श्री कृष्ण कहते हैं—यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः। —'जो अज्ञानी हैं, वे प्रयत्न करने पर भी उसे नहीं देख पाते हैं, क्योंकि वे अकृतात्मा हैं, अशिक्षित हैं।'

गीता स्पष्ट निर्देश दे रही है कि चित्त की संवेदनशीलता ही मनुष्य को यह महान् दर्शन करा सकती है। संवेदनशक्ति के अभाव को यहाँ गीता ने अचेताः' कहा है। वह व्यक्ति अचेत रहता है, यानी अजागृत रहता है। यह चित्त की वह अवस्था है जिसमें सावधानता नहीं होती है। श्री कृष्ण कह रहे हैं कि मनुष्य चाहे जितने दीर्घ काल तक प्रयत्न करता रहे, किन्तु केवल वह प्रयत्न उसे अध्यात्मदृष्टि प्रदान नहीं कर सकता। उसके लिए सावधानता अथवा संवेदनशीलता परम आवश्यक है। निम्न श्लोक में जिस अवस्था का वर्णन कर रहे हैं उसकी वास्तविकता का अनुभव संवेदनशील मनुष्य ही कर सकता है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।

—'सूर्य के अन्दर जो तेज समस्त संसार को आलोकित करता है, चन्द्रमा में तथा अग्नि में जो तेज है, उसे मेरा ही समझो।'

अग्नि, चन्द्र और सूर्य भौतिक, भावनात्मक और चैतसिक अवस्था के प्रतीक हैं। गीता कह रही है कि इन तीनों लोकों का समस्त तेज उस अविनाशी स्थिति से ही प्रादुर्भूत हुआ है। गोचर-अगोचर जगत में भी जो परम तेज विद्यमान

है, उसका भी दर्शन जाग्रत पुरुष कर सकता है, वही कर सकता है जो असाधारण संवेदना रखता है। सृष्टि की समस्त स्थूल वस्तुओं में भी 'उस' की उपस्थिति अनुभव करना यानी जीवन को एक नया ही अर्थ देना है, एक नया आयाम देना है, बल्कि यही परम सुख का रहस्य जानना है। श्री कृष्ण कहते हैं :

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।

—'मैं वैश्वानर का यानी जीवन की अग्नि का रूप धारण कर प्राणियों की देह में रहते हुए प्राण और अपान से युक्त हो कर यानी ऊर्ध्वमुख और अधोमुख प्राणों से चार प्रकार के अन्न का पाचन करता हूं।'

इस अध्याय मे जिस सावधानता और संवेदनशीलता का उल्लेख है उसे यदि प्राप्त कर लिया तो मनुष्य अन्न पचाने का भी 'उस' को सौंप कर बरी हो सकता है। प्रायः हम शारीरिक भूख की दृष्टि से ही नहीं, मन की भूख मिटाने के लिए खाते हैं। परन्तु भौतिक अन्न से मन की भूख कैसे मिटे ? यह तब तक सम्भव नहीं है, जब तक अन्न खानेवाला मनुष्य अविचारपूर्वक खाता रहता है—यह सोच कर खाता है कि जितना अधिक खाया जाय उतना ही मन को सन्तोष मिलेगा। सन्तोष मिलना तो रहा, उल्टे शरीर पर अतिरिक्त भार बढता है और उस भार के कारण शरीर अनेक रोगों का डेरा भी बन जाता है। यदि मनुष्य तभी खाये जब वैश्वानर जाग्रत हुआ है तब रोग हो ही नहीं सकते। केवल वैश्वानर को तृप्त करना मन की लालसा की पूर्ति मे न लगना—इसका अर्थ है साधारण भोजन की क्रिया में भी संवेदनशील और सावधान रहना। ऐसा करनेवाला ही 'युक्त' कहलाता है, क्योंकि वह रागद्वेष-विहिन होता है।

इस अध्याय में श्री कृष्ण क्षर मे अर्थात् भौतिक मे ऊपर उठने, अक्षर से अर्थात् मूलद्रव्य से भी परे होने, तथा परमात्मदर्शन अर्थात् पुरोत्तम के दर्शन करने की बात कहते हैं। इस अध्याय के १८ वें श्लोक में गीता कहती है :

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।

—'चूँकि मैं क्षर से अतीत हूँ' अक्षर से भी उत्तम हूँ' इसीलिए लोक में तथा वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।'

परन्तु पुरुषोत्तम-दर्शन तो 'असम्मूढ' ही कर सकता है। सम्मूढ होने का अर्थ है अपने रंग में देखना, धुंधला देखना। यह धुंधलापन मन के प्रक्षेपों के परदेके कारण आता है। इस मोह में ग्रसित पुरुष समझ ही नहीं सकता कि भला क्या है और बुरा क्या है। इसलिए गीता अगले सोलहवें अध्याय में इसी भले-बुरे के, शुभ और अशुभ के सनातन प्रश्न की चर्चा कर रही है।

षोडश अध्याय

शुभ और अशुभ

सनातन काल से मनुष्य शुभ और अशुभ की समस्या से संत्रस्त है और उस का समाधान खोजने का वह निरन्तर प्रयास कर रहा है। संसार के प्रत्येक भूभाग के तत्वज्ञ और दार्शनिकों ने अपने ज्ञान और अनुभव के अनुसार इसका विचार किया है। नित्यजीवन के प्रत्येक प्रसंग में मनुष्य को क्लेश देनेवाली इस जटिल समस्या का समाधान तत्कालीन ऋषि-मुनि बताते आये हैं। फिर भी समस्याओं की समस्या इस महासमस्या का समाधान मनुष्य द्वारा खोजने के लिए अब भी बाकी है। ऐसा क्यों है? मुनिजनों और दार्शनिकों का समाधान क्या सन्तोषजनक नहीं है? हमारी सब से बड़ी दिक्कत यह है कि हम अपनी प्रत्येक समस्या का कोई बना-बनाया समाधान चाहते हैं, सुनिश्चित और पूर्वनिर्धारित हल की अपेक्षा रखते हैं। परन्तु जीवन तो निरन्तर गतिमान है। तब यह कैसे सम्भव होगा कि जीवन के हर क्षण उत्पन्न होनेवाली नित्यनवीन समस्याओं का कोई पूर्वनिश्चित और बना-बनाया समाधान मिल जाय? प्रत्येक परिस्थिति का अपना स्वतंत्र समाधान होता है जो उसके ही अनुरूप होता है। कल का उपाय आज की परिस्थिति के लिए अनुपयोगी हो जाता है। जीवन तो नदी के प्रवाह के समान है, जिसमें हर क्षण नया पानी होता है। इसलिए जीवन को प्रतिक्षण समझना होगा और उस का उपाय भी प्रतिक्षण सोचना होगा। क्योंकि प्रत्येक क्षण अद्वितीय होता है। सर्वसाधारण नीतिनिर्देशक नियम कुछ होंगे, तो भी उन्हें स्थूल रूप से ही ग्रहण करना चाहिए। उन नियमों को मात्र अंगुलिनिर्देश समझना चाहिए। वे तो दिशास्तम्भ हैं जो मार्ग बताते हैं। उन्हें ही मंजिल समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। परन्तु प्रायः मनुष्य दिशास्तम्भ को ही मंजिल समझ लेता है और वहीं अपना डेरा डाल लेता है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने जो भी कहा है वह मात्र दिशासूचक है। दिशा सूचित करने तक उन का मूल्य है। यह और बात है कि मनुष्य उस मार्ग का अनुसरण करे या न करे, परन्तु एक बार यदि उस ने निश्चय किया कि चलना है, तो सम्भावित हर विपत्ति के लिए उसे सिद्ध भी रहना होगा। वह दिशासूचक स्तम्भ बता नहीं

सकेगा कि मार्ग में क्या-क्या विपत्तियाँ आयेंगी और क्या-क्या नहीं। प्रवासी यदि सजग नहीं रहता है या सम्भावित परिस्थिति का सामना करने की मानसिक तैयारी नहीं कर लेता है, तो उसे मध्य मार्ग में हताश होना पड़ेगा।

आखिर शुभ-अशुभ की समस्या क्या है? क्या कोई निश्चित कह सकता है कि यह शुभ है और यह अशुभ? क्या जीवन में इस तरह का सुनिश्चित विभाग किया जा सकता है कि यही शुभ है और शेष सब अशुभ है? वस्तुतः शुभ और अशुभ दोनों सापेक्ष हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक के लिए जो शुभ है वह दूसरे के लिए भी शुभ ही हो। एक परिस्थिति में जो शुभ है वह दूसरी परिस्थिति में शुभ न रहे, यह सम्भव है। इस लिए शुभ और अशुभ का निर्णय उस व्यक्ति और उस परिस्थिति पर निर्भर है *जिसके सामने और जिस परिस्थिति मे* वह समस्या उपस्थित होती है। शुभाशुभ का सारा प्रश्न मूलतः चुनाव का प्रश्न है। इस जटिल जीवन के विभिन्न प्रसंगों में मनुष्य कठिनाई में पड़ जाता है कि क्या चुना जाय और क्या नहीं। फिर भी वह जो चुनता है उसी पर उस का सुख या दुःख अवलम्बित होता है। चुनना इसलिए कठिन हो जाता है कि कोई भी वस्तु मात्र वस्तु के नाते न शुभ है, न अशुभ। जैसे अडेप्ट टीचर ने, जो गुप्तविद्या-सम्प्रदाय में मास्टर के० एच० के नाम से जाने जाते हैं, ए० पी० सिनेट को लिखा—

"अशुभ कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। प्रकृति में न कोई शुभ है, न कोई चमत्कार है। वास्तव में अशुभ तो मनुष्य के मन की उपज है; और जो मनुष्य विचारवान् है, जो कि प्रकृति से कट गया है, वही अशुभ का मूल स्रोत है।"
इस कथन के अनुसार मनुष्य की विचारशील बुद्धि ने ही इस शुभाशुभ की समस्या को जन्म दिया है। नैसर्गिक व्यापार को शुभ और अशुभात्मक विभागों में बाँटनेवाला मनुष्य का मन ही है; वह उस मनुष्य का मन है जो स्वयं निसर्ग से दूर हट गया है, प्रकृति से कट गया है। निसर्ग से कट जाने का अर्थ क्या है? सृष्टि में एक विराट् संकल्प होता है जो निसर्ग का अपना है; और इस सारी सृष्टि के सृजन और धारण के पीछे वही संकल्प काम करता है। परन्तु मनुष्य अपने मन से अपने वैयक्तिक संकल्प को जन्म देता है और वही उसके जीवन की सारी समस्याओं का मूल है। मनुष्य ही अपने मन के द्वारा इन दोनों संकल्पों के बीच अन्तर्विरोध निर्माण करता है। वैश्विक संकल्प के विरोध में यह जो

वैयक्तिक संकल्प बड़ा होता है, यही प्रक्रिया निसर्ग से कटने की प्रक्रिया है। सृष्टिगत समस्त रूपों में निसर्ग की शक्ति संक्रान्त है। वह शक्ति अपने में न शुभ है, न अशुभ। मनुष्य अपने मन से उन में जो भावना भरता है, उसके कारण उनमें शुभता या अशुभता आती है। संसार में प्रचलित गुप्तविद्या के वाङ्मय में, इस शक्ति के, मोटे तौर पर दो भाग किये जाते हैं—एक को आलोकशक्ति कहते हैं, और दूसरी को अन्धकारशक्ति। कभी-कभी इन्हें उजला चमत्कार और काला चमत्कार भी कहते हैं। भगवद्गीता इन्हें दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पति का नाम देती है। इन दो शक्तियों के संघर्ष की चर्चा करना ही पुराणों का प्रमुख विषय रहा है। हिन्दूपुराणों में इसे देवासुर-संग्राम का रूप दिया गया है जो आलोक और अन्धकार की ही सन्तान हैं। गीता के इस सोलहवें अध्याय में इन्ही दैवी सम्पदाओं और आसुरी सम्पदाओं का विवेचन प्रस्तुत है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये सम्पदाएँ शुभ और अशुभ शक्तियों का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। गीता कहती है :

> अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः
> दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।
> अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्
> दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।
> तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता
> भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।

—'निर्भयता, चित्तशुद्धि, ज्ञान और योग का कुशल विभाजन, दान, इन्द्रियनिग्रह, यज्ञ, स्वाध्याय, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दोषदर्शनका अभाव, भूतमात्र के प्रति करुणा, लोलुपता या लालसा का अभाव, मृदुता, लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, शत्रुता का अभाव और अभिमान का अभाव—ये सब हे अर्जुन, दैवी प्रकृति से उत्पन्न मनुष्य की सम्पदाएँ हैं।'

दैवी सम्पति की इस सूची का विश्लेषण करने पर मालूम होगा कि ये सब मानव-मन की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। आलोक शक्तियों का स्वरूप वस्तुलक्षी नहीं होता है। निसर्ग में विद्यमान इन शक्तियों को मनुष्य का चित्त ये सारे रूप दिया करता है। मनुष्य की शक्तियाँ तो तटस्थ हैं, निरपेक्ष हैं। जब वे

उस के शान्त और समाधानयुक्त चित्त में से गुजरते हैं, तब उन्हें शुभ या सात्विक कहा जाता है। किन्तु वे ही शक्तियाँ अशान्त या सकाम चित्त में से होकर चलती हैं तब उन्हें अशुभ या अन्धकारमय कहा जाता है। उपर्युक्त सूची में दो शक्तियाँ विशेष महत्वकी हैं। एक है दोषदर्शन का अभाव (अपैशुनम)। अपैशुन का अर्थ है स्वभाव में वक्रता का अभाव। जो वक्र स्वभाव के होते हैं वे सदा दोषदर्शी होते हैं। जिस के स्वभाव में लेशभर भी वक्रता रही हो, वह निश्चय ही अशुभ शक्तियों का वाहन बनता है। दोषदर्शिता के मूल में दो शक्तियाँ काम करती हैं, उनका उल्लेख इस सूची में आया है, वे हैं 'असूया' और 'अभिमान'। जिस व्यक्ति को अपनी सफलताओं का भान रहता है वह अभिमानी बनता है और जिसे अपनी विफलताओं का भान रहता है वह ईर्ष्यालु होता है। ये दोनों दोष चित्त के दो छोर हैं और ये दोनों मिलकर दोष-दर्शन की वृत्ति निर्माण करते हैं। सफलताओं का भान होने से मनुष्य में गर्व या उच्चता का भाव पैदा होता है और विफलताओं का भान होने से कुण्ठा या हीनता का भाव पैदा होता है। ये दोनों ही भाव दोषदर्शन की वृत्ति जगाने वाले होते हैं। उक्त सूची में दूसरा महत्वपूर्ण सम्पदा है लज्जा—। दैवी सम्पत्तियों से युक्त मनुष्य लज्जालु होगा अर्थात् विनम्र होगा। सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति विनयशील होता है। जिस व्यक्ति में पाण्डित्य होता है, वह गर्वी होता है, परन्तु जिसमें 'बुद्धि' होती है, जिसमें प्रज्ञा होती है वह सदा विनम्र होता है। पण्डित को इस बात का अहंकार होता है वह मानता है कि मैं यह जानता हूँ; परन्तु प्रज्ञावान् इस लिए विनम्र होता है कि वह जानता है कि वह कुछ नहीं जानता है।

> दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च
> अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।

—'हे अर्जुन, दम्भ, गर्व, अहंकार, क्रोध, कठोरता और अज्ञान आसुरी प्रकृति से उत्पन्न मनुष्य की सम्पदाएँ हैं।'

यहाँ 'उत्पन्न' शब्द का अर्थ 'प्राप्त' करना चाहिए, क्योंकि कोई भी मनुष्य जन्म से न दैवी प्रकृति का होता है, न आसुरी प्रकृति का। ये सारी वृत्तियाँ मनो-निर्मित हैं, इसलिए प्रत्येक की अपनी कमाई होती है। ये मात्र मनोवैज्ञानिक ही हैं, शारीरिक या समाजिक नहीं। उपर्युक्त सूची में उल्लेखनीय है दम्भ। अपनी

सचित पद या भौतिक सम्पत्ति आदि का प्रदर्शन करना निश्चित ही मन के छिछोरे पन का लक्षण है। उसमें बुद्धि की अपरिपक्वता लक्षित होती है। मनुष्य इस प्रकार क्यों प्रदर्शन किया करता है? प्रदर्शन के पीछे आश्वासन या सुरक्षा का अभाव निहित होता है। जो मनुष्य स्वयं अपने को महत्वहीन महसूस करता है, वही अपनी शक्ति का, पद का या सम्पत्ति का और अपने तथाकथित आध्यात्मिक लक्षणों का प्रदर्शन करके अपना महत्व सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। गीता यह भी कह रही है कि कठोरता—'पारुष्यम्' भी आसुरी सम्पत्ति है। जो मनुष्य दम्भी होता है, अपनी उपलब्धियों को पहचानता है वह निश्चित ही क्रूर और कठोर होता है। इस कठोरता में अपनी सामर्थ्य प्रदर्शित करने की वृत्ति होती है। हम अपने से कम योग्यता वालों के प्रति कठोर बन जाते हैं, क्योंकि हम उन्हें जता देना चाहते हैं कि हमारे हाथ में असीम सामर्थ्य है कि चाहें तो तुम्हें कुचल सकते हैं, बरबाद कर सकते हैं।

ध्यान देने की एक विशेष बात यह है कि आसुरी वृत्तियों के वर्णन में आदि से अन्त तक गीता 'अहं' भाव के अस्तित्व का भान करा रही है। वस्तुस्थिति यह है कि यह अहंभाव ही सारी अन्धकार मय वृत्तियों का पोषक है। इस अहंभाव का होना न होना ही उजले या काले चमत्कार की पहचान है। गीता के निम्न श्लोकों में आसुरी सम्पत्तियों का और भी स्पष्ट चित्र प्रस्तुत हुआ है:

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।

—'आज मैं ने यह पाया, कल वह मनोरथ प्राप्त करूँगा, यह धन तो मेरा है ही, यह और होगा, मैंने अपने शत्रु का संहार कर दिया; औरों का भी करूँगा, मैं स्वामी हूँ, मैं भोक्ता हूँ, सिद्ध हूँ, मैं ही बलशाली हूँ, सुखी हूँ। मैं धनवान् हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान कौन होगा? मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, आनन्द भोगूँगा।'

इस सूची में सर्वत्र अहंभाव बराबर दिखाई देता है। इस प्रकार के लोगों को गीता 'अज्ञानविमोहित' कह रही है। कुल मिलाकर समस्त आसुरी सम्पत्ति के मूल में यही अहंभाव होता है। आगे गीता कहती है :

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।

—'आसुरी जन न सही प्रवृत्ति को जानते हैं, न सही निवृत्ति को; उन में न शुचिता होती है, न शिष्टाचार होता है, न ही सत्य होता है।'

निवृत्ति सही होनी चाहिए, क्योंकि दीखने को जो-जो निवृत्त दिखाई देती है वह सब सही निवृत्ति नहीं होती है; जिस प्रकार निवृत्ति का अर्थात् त्याग का दिखावा चलता है उसी प्रकार सुख का भी आडम्बर प्रदर्शित हो सकता है। वैसे ही इन्द्रियनिग्रह भी प्रदर्शनात्मक हो सकता है। बाह्यदमन का प्रदर्शन करके, त्याग का आडम्बर खड़ा करके किसी तरह ख्याति प्राप्त करना निश्चित ही 'स्व'-सन्तुष्टि का प्रकार है। ऐसे लोगों को गीता 'दम्भमानमदान्वित' कहती है। वे केवल दिखावा चाहते हैं, उन में जो कुछ श्रेष्ठता है वह कोरा दम्भ है, आडम्बर है। आसुरी सम्पत्तिवानों का वर्णन करते हुए गीता आगे कहती है :

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।

—'वे आत्मसम्भावित होते हैं, आग्रही होते हैं, धन और मान के मदसे मत्त होते हैं : दम्भपूर्वक अशास्त्रीय रीती से यज्ञ करने का स्वांग रचते हैं।'

'दम्भपूर्वक अशास्त्रीय यज्ञ विधि का स्वांग रचते हैं'—यह ऐसे दाम्भिक लोगों का यथार्थ चित्रण है। वे जो भी कार्य करते हैं उसमें उनकी पूरी निष्ठा नहीं होती ; उन में कामों का बाहरी रूप बड़ा उत्कृष्ट प्रतीत हो सकता है, परन्तु अन्दर का भाव बड़ा ही काला और अपवित्र होता है। इस प्रकार गीता किसी भी कर्म के औचित्य की कसौटी बाहरी रूप को नहीं, आन्तरिक भाव को मानती है। कर्म के हेतु और उसके पीछे निहित भाव से ही यह तय किया जा सकेगा कि यह 'उजले कर्म' का वाहक है या 'काले कर्म' का। यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि शक्ति उजली या काली नहीं होती, मनुष्य का मन है जो पवित्र या अपवित्र हुआ करता है। मन के अपवित्रता का लव-लेश भी रहा तो उसके परिणामस्वरूप मनुष्य अवांछित और अनिष्ट तत्वों का वाहक बन जाता

है। वह विरोध और विसंगति का, भेद और फूट का केंद्र बन जाता है। गीता कहती है कि 'अपरिमित चिन्ता से व्याकुल रहता है और आशाओं के अनेक जालों से आबद्ध रहता है।' जो मनुष्य नाना विक्षेपों का शिकार हो जाता है, उसे दिग्भ्रान्त होना ही है और दिग्भ्रान्त मनुष्य जीवन की जटिल और उलझी हुई परिस्थितियों में सही गलत का निर्णय कैसे कर पायेगा ?

गीता कहती है :

> त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः
>
> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत ।

—'काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों नरक के तीन द्वार हैं, आत्मघातक हैं : इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिए।'

काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों मन को दूषित करनेवाले हैं। इनसे दूषित होनेवाला मन विरोध और विनाश का ही निमित्त बनता है। भगवान् ने इन तीनों को नरक का द्वार क्यों बताया : 'काम' क्या है ? रूप की आसक्ति ही काम है। प्रतीक को ही मूल समझने की भूल का नाम काम है। मनुष्य का वह प्रयत्न काम कहलाता है जो इन्द्रियगम्य आसक्ति के द्वारा अतीन्द्रिय की प्राप्ति के लिए किया जाता है। चूँकि इन्द्रियगम्य से चिपके रहने से अतीन्द्रिय कभी हाथ आनेवाला नहीं है, इसलिए कामनाग्रस्त व्यक्ति को अपने प्रयत्न में निराश होना ही होगा। उसकी कामना कभी तृप्त होनेवाली नहीं है। अतीन्द्रिय-प्राप्ति की आशा से वह इन्द्रियगोचर तत्त्व से जितना चिपकता जाता है, उतनी ही उसकी कामना बढ़ती जाती है। काम का विपरीत गुण है क्रोध। काम अनुरक्ति-मूलक है, तो क्रोध विरक्ति-मूलक है। काम और क्रोध दोनों वस्तुतः अविभाज्य तत्त्व हैं, एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जहाँ काम है, वहाँ क्रोध प्रकट होना चाहिए। जहाँ रूप का निषेध हो, वहाँ भी काम अप्रकट रूप से रहता ही है। इस प्रकार काम और क्रोध दोनों मानसिक द्वन्द्व हैं : एक भावात्मक बिन्दु का प्रतीक है, तो दूसरा अ—भावात्मक बिन्दु का प्रतिनिधि है। परन्तु लोभ क्या है ?

काम और क्रोध दोनों के मूल में परिग्रहवृत्ति होती है। बल्कि यही कहना चाहिए कि उन दोनों की प्रवृत्ति किसी न किसी संचय की ओर होती है। इसलिए संचय के भावात्मक और अ—भावात्मक दोनों स्वरूप काम और क्रोध

में निहित होते हैं। तो, लोभ का अधिष्ठान दूसरा हो है। वह परिग्रहवृत्ति नहीं है, क्योंकि स्वयं परिग्रह ही लोभ है। यह लोभ काम और क्रोध को जन्म देता है। काममूलक तथा क्रोधमूलक प्रवृत्ति का प्रेरक लोभ है। दूसरे शब्दों में काम और क्रोध दोनों लोभ की ही अभिव्यक्ति है। मूल स्रोत लोभ है, और उस स्रोत से उत्पन्न क्रिया और उसकी अभिव्यक्ति काम और क्रोध हैं।

गीता कह रही है कि काम, क्रोध और लोभ तीनों नरकद्वार हैं। इसमें कोई शंका नहीं कि ये तीनों मनुष्य के पतन और क्षय के महाद्वार हैं। हर तरह के दुःख का मूल, संचय है। और मनुष्य संचय करना इसलिए चाहता है कि वह सोचता है कि उसके आधार पर वह आश्वस्त हो सकता है, सुरक्षित रह सकता है। यह संचय वृत्ति काम और क्रोध के रूप में प्रकट होती है और उसके मूल मे लोभ होता है। परन्तु जीवन का संचय कैसे हो सकता है? जीवन का संचय करने का प्रयत्न आत्मवंचना के सिवा कुछ नहीं है। फिर, जो चित्त संचयवृत्ति से ग्रसित है, वह शुभाशुभ का, भले-बुरे का विवेक कैसे कर सकेगा? संचयशील चित्त मन्द और जड़, होता है, उसमें निष्क्रियता भरी होती है। वह मलिन और कलुषित होता है, क्योंकि वह संचय से चिपकता है और संचय उससे चिपकता है। इस प्रकार मन अपनी ऋजुता खो देता है। लेकिन जो मन ऋजु होगा, निर्मल होगा वही शुभ को, मंगल को पहचान सकेगा—शुभ वह नहीं जो अशुभ का प्रतियोगी है, बल्कि निरपेक्ष शुभ, परम मंगल। सापेक्ष के बीच निरपेक्ष को देखने का अर्थ है जीवन के इन्द्रियगोचर तत्वों में व्यवहार करते हुए भी अतीन्द्रिय से तादात्म्य स्थापित करना। निम्न श्लोक में गीता शुभाशुभ की समूची समस्या का उपसंहार कर रही है :

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।

—'इसलिए कर्तव्य और अकर्तव्य का निश्चय करने में तुम शास्त्र को प्रमाण मानो और शास्त्रविधान के द्वारा जो कहा गया है उसे जानकर इस संसार में कर्म किया करो।'

श्री कृष्ण का यह उपदेश बड़ा विचित्र है। गीता ने आदि से अन्त तक जो उपदेश दिया है, उसके यह विपरीत जान पड़ता है। क्या जीवन कोई स्थिर वस्तु है जिसकी सभी समस्याओं का समाधान शास्त्रों में मिल जाय? यहाँ

शास्त्र-प्रमाण का अर्थ क्या है ? क्या शास्त्र-वचनों को आँख मींच कर मान लें ? अगर नहीं तो शास्त्रों का प्रयोजन क्या है ? पंचतंत्र में एक श्लोक है :

> यस्य नास्ति स्वयंप्रज्ञा किं शास्त्रेण प्रयोजनम्
> लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति।

—'जिस व्यक्ति में अपनी प्रज्ञा न हो उसके लिए शास्त्र का प्रयोजन क्या है ? अन्धे को दर्पण से क्या काम ?'

शास्त्र दर्पण के समान हैं। मनुष्य दर्पण का उपयोग तभी कर सकेगा जब उसके आँख हो। अन्धे को दर्पण का कोई उपयोग नहीं है। इस अध्याय के प्रारम्भ में जैसे कहा, ऋषि-मुनियों और तत्ववेत्ताओं के सारे वचन दिशास्तम्भ के समान हैं, उसी प्रकार शास्त्र भी दिशासूचक ही हैं। अध्यात्ममार्ग पर जो पहले जा चुके हैं उन लोगों ने अपनी बात इन शास्त्रों में लिख रखी है। इनमें चूँकि उनके अनुभव संकलित हैं, इसलिए ये मूल्यवान् अवश्य हैं। यात्रा आरम्भ करने से पहले दिशादर्शक सूचनाएँ पढ लेना उपयोगी होता है। उनका निषेध करना अपरिपक्वता का लक्षण है। अध्यात्ममार्ग के यात्री के लिए उपयोगी और उचित सूचना यही हो सकती है कि वह दिशास्तम्भ को ही पकड़ कर बैठ न जाय, लेकिन उनका निषेध भी न करे। :यही सूचना गीता के इस श्लोक में दी गयी है।

जिस मनुष्य में प्रज्ञा न हो उसके लिए शास्त्रों का कोई मूल्य नहीं है। इसी-लिए गीता ने दूसरे अध्याय में बुद्धि की शरण जाने की बात की है—*बुद्धौ शरण-मन्विच्छ*। शास्त्रों में उन लोगों के अनुभव संकलित हैं जो अध्यात्ममार्ग पर पहले प्रवास कर चुके हैं। परन्तु जब तक हम अपना अनुभव स्वयं प्राप्त न करें तब तक दूसरों के अनुभवों का हमारे लिए कोई महत्व नहीं है। शास्त्र तो आगे जानेवालों के पदचिह्न हैं। ये पदचिह्न आरम्भ बिंदु हैं और साथ ही प्रयाणबिन्दु भी हैं। परन्तु मनुष्य दिशास्तम्भ को कब प्रयाणबिन्दु बना पाता है ? तभी, जब कि वह उसे विवेक पूर्वक पढ़ सकेगा : शास्त्रों का अर्थात् जीवन के दिशा-स्तम्भों का उपयोग करने के लिए मनुष्य में इतनी बुद्धि होनी चाहिए कि उसे पढ़ कर समझ सके। दूसरे शब्दों में उस दिशास्तम्भ में लिखी बातों को समझने के लिए मनुष्य की बुद्धि सजग रहनी चाहिए साथ ही उन्मुक्त भी रहनी चाहिए।

है। उसका मानना है कि जीवन की विशाल और जटिल समस्याओं को समझना मन के बस का नहीं है। मन तो स्थिर वस्तुओं को जान सकता है। इसीलिए जीवन को समझने का वह प्रयत्न करता है तो जीवन की गतिमत्ता को भी एक स्थिर और जड़ चित्र के रूप में टुकड़ों में जांचने लगता है और अंशतः परखने का प्रयत्न करता है कि उनमें क्या है। परन्तु जड़ और अचल चित्रों से जीवन की गतिमयता कैसे मालूम होगी? उसके लिए प्रज्ञा की आवश्यकता है। परन्तु प्रज्ञा का आलोक भी तभी प्राप्त हो सकेगा जब मन अचल और सजग होगा जब उसमें भाव-शून्यता होगी। गीता के अन्तिम दो अध्यायों में जीवन के इसी व्यावहारिक पहलू की, बुद्धि के जीवन्त स्पर्श से चित्त के आलोकित होने के उपायों की चर्चा की गयी है। जो समस्याएं मन के द्वारा निर्मित हैं, उनका समाधान मन से होनेवाला नहीं है। शुभ-अशुभ, सत् और असत्, सुख और दुःख आदि महान् से महान् द्वन्द्वों को समझने के लिए मनुष्य के चित्त को प्रज्ञा की आभा से आलोकित होने की आवश्यकता है। जो चित्त द्वन्द्वों में विचरण कर रहा हो, वह द्वन्द्वों के आशय को, तत्व को कैसे समझ सकेगा? इसके लिए मन से परे उठने की आवश्यकता है। मन से परे उठना वास्तव में एक महान् चमत्कार है; और गीता अन्तिम दो अध्यायों में उसी महा चमत्कार की दिशा में हमें ले जाती है।

सप्तदश अध्याय

साधन-त्रय

मानव-जाति के विकास के इतिहास में रूप, रचना और आकारों के परिवर्तन की ही बातें नहीं हैं; चित्त के विभिन्न परतों का अनावरण भी है। वस्तुतः विकास-प्रक्रिया में प्रमुख चित्त ही है; रूप, देहरचना और आकृति तो उसी से प्रति-फलित होती हैं, उसी से व्युत्पन्न होती हैं। चित्त के परिवर्तित होते ही रूप और आकृति का परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाता है। इसलिए विकास का रहस्य समझने के लिए केवल बाह्य आकार और रूप-रचना का तथा उनके रूपान्तरण का पृथक्करण और परीक्षण करना पर्याप्त नहीं; चित्त के परिवर्तनों का अध्ययन करने पर ही विकास का रहस्य और महत्व समझमें आ सकता है। जहाँ तक चित्त का सम्बन्ध है, उसके विकास की प्रमुख तीन मंजिलें अथवा तीन अवस्थाएँ दृष्टि गोचर होती हैं; एक नैसर्गिक वृत्ति (इन्स्टिंक्ट), दूसरी बुद्धि (इन्टलेक्ट), और तीसरी प्रज्ञा (इण्ट्यूशन)। समस्त मानवेतर प्राणियों और आदि-मानव-जातियों का चित्त नैसर्गिक-वृत्ति-प्रधान रहा है। उनकी सारी प्रवृत्तियाँ नैसर्गिक वृत्ति से प्रेरित होती हैं। कठिन प्रसंगों मे उचित मार्ग खोजने में वे अपनी इसी नैसर्गिक वृत्ति पर निर्भर रहती हैं। नैसर्गिक वृत्तियों पर पूर्ण श्रद्धा रखना आदि मानव का विशेष लक्षण रहा है। ज्यों-ज्यों उसके चित्त का विकास होता जाता है वह त्यों-त्यो नैसर्गिक वृत्ति से आगे बढता जाता है। वह देखने लगता है कि नैसर्गिक वृत्ति के ही अनुसार चलने मे एक प्रकार का बन्धन है; वह उसमें एक प्रकार की पराधीनता अनुभव करता है। इसलिए धीरे-धीरे बुद्धि का सहारा लेने लगता है। फिर बुद्धि पर अधिकाधिक निर्भर रहने लगता है। विकास के इतिहास से चित्त के इस नैसर्गिक वृत्ति से बुद्धि की ओर उन्मुख होने के प्रमाण स्पष्ट हैं। जैसे-जैसे बुद्धि काम करने लगती है वैसे-वैसे श्रद्धा का तत्व क्षीण होता जाता है और श्रद्धा का स्थान 'विश्वास' (बिलीफ) लेने लगता है। विश्वास का विषय 'ज्ञात' होता है। बुद्धि को अपने ज्ञान का अहंकार होता है। वह मानता है कि संसार मे ऐसा कुछ भी नहीं जिसे वह न जान सके। उसे अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा होता है। जीवन में इस की भी आवश्यकता

होती है, क्योंकि इसके बिना मनुष्य में स्वातंत्र्यवृत्ति का विकास नहीं हो पाता है। बुद्धि की सहायता से मनुष्य अपनी क्षमताओं को जान पाता है। लेकिन कभी-न-कभी, शीघ्र हो या विलम्ब से, वह समझ लेता है कि बौद्धिक विकास और बुद्धि शक्ति की वृद्धि उसे बहुत आगे नहीं ले जा सकती। इस प्रकार वह बुद्धि की मर्यादाओं को जानने लगता है। इस अवस्था में चित्त एक नयी सीढ़ी पर चढ़ता है और वह बुद्धि के बदले प्रज्ञा का आश्रय लेता है। प्रज्ञा के उदय के साथ-साथ एक बार और मनुष्य-जीवन में श्रद्धा का तत्व दाखिल होता है ; परन्तु प्रज्ञा की, अन्तः स्फुर्ति की अवस्था की श्रद्धा में और नैसर्गिक वृत्ति की अवस्था की श्रद्धा में जमीन आसमान का अन्तर है। नैसर्गिक वृत्ति की श्रद्धा अज्ञानमूलक होती है, और प्रज्ञा की श्रद्धा निर्मल और निर्दोष होती है। भगवद्‌गीता अपने सत्रहवें अध्याय का आरम्भ इसी श्रद्धा के विभिन्न प्रकारों के विवेचन से कर रही है श्री कृष्ण कहते है—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः

—'देहधारी की श्रद्धा त्रिविध होती है—सात्विक, राजस और तामस। हे अर्जुन, प्रत्येक के सत्व के अनुरूप अर्थात् स्वभाव के अनुरूप उसकी श्रद्धा हुआ करती है, जिसकी जो श्रद्धा है वह वही बनता है।'

प्रत्येक व्यक्ति में उस के स्वभावानुसार श्रद्धा हुआ करती है—कहने का अर्थ यह है कि व्यक्ति के विकास के अनुसार उसकी श्रद्धा का आकार बदलता है। फिर गीता कह रही है कि श्रद्धा ही मनुष्य का चारित्र्य-निर्माण करती है। मनुष्य का विकास उस श्रद्धा के अनुरूप होता है, जिसका वह वरण करता है। श्रीकृष्ण यहाँ तामसी श्रद्धा, राजसी श्रद्धा और सात्विक श्रद्धा का विवरण दे रहे हैं। तामसी श्रद्धा का अर्थ है अज्ञानी की श्रद्धा। अज्ञानी अथवा तामस वे हैं जिनकी बुद्धि जागृत नहीं है, जिनमें आलस्य और निष्क्रियता भरी होती है उनकी श्रद्धा के मूल में भय होता है। गीता कहती है कि ये लोग भूत-प्रेत के पूजक होते हैं। ऐसी पूजा भयजनित अज्ञान की द्योतक है। राजस लोग वे हैं जो कर्ममय रहते हैं, कर्मजाल के कारण व्यग्र रहते हैं, क्योंकि वे बुद्धि से प्रेरित होते हैं। बुद्धि

बड़ी चतुर और स्वच्छन्द होती हैं। इसलिए राजस लोग असुरपूजक होते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। राजस श्रद्धा अपने अहं पर श्रद्धा है, अपनी बुद्धिसामर्थ्य पर अपनी चतुराई पर श्रद्धा है। फिर श्रीकृष्ण कहते हैं कि सात्विक लोग देव-पूजक होते हैं, वे फलदायक शक्तियों के उपासक होते हैं। उनमें निर्मल श्रद्धा होती है, क्योंकि सात्विकता का आधार निर्मलता ही है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रकार की श्रद्धाएं मनुष्य की नैसर्गिकवृत्ति-प्रधान, बुद्धि-प्रधान और प्रज्ञा-प्रधान जीवन की द्योतक हैं। आज मनुष्य की मूल-भूत समस्या यही है कि बुद्धि से प्रज्ञा की ओर वह कैसे बढे, मन से 'परा बुद्धि' में कैसे प्रवेश करे। यह आरोहण कैसे सधे ?

सत्रहवें अध्याय में श्री कृष्ण अर्जुन का ध्यान त्रिविध साधनों की ओर खींच रहे हैं, जिनका सही उपयोग करने पर सम्यक् श्रद्धा की दशा में, सात्विक या निर्दोष श्रद्धा की ओर मानव अग्रसर हो सकता है। वे तीन साधन हैं यज्ञ, दान, तप। नैष्ठिक सेवा अथवा विवेकयुक्त कर्म का नाम यज्ञ है। यज्ञमय जीवन सजगतायुक्त जीवन है, परन्तु यह सजगता विकल्पसहित है, इसमें विवेक होता है। गीता आहार के तीन प्रकार बता रही है। जिनको यज्ञ का आचरण करना है अर्थात् विवेकयुक्त कर्म करना है उन्हें अपने आहार के प्रति विशेष सावधान रहना होगा। विवेक का आरम्भ निश्चित ही आहार से होना चाहिए, क्योंकि चित्त पर सब से अधिक प्रभाव आहार का पड़ता है। यदि आहार अशुद्ध है तो विवेकयुक्त कर्म कैसे हो सकेगा ? शरीर और चित्त की जड़ता मे वृद्धि करने वाला आहार सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि वह सम्यक् कर्म अथवा कर्मयोग में बड़ा बाधक होता है। इसी प्रकार उत्तेजक आहार शरीर और मन दोनो को उद्विग्न और अशान्त करता है। उद्विग्न पुरुष विवेकपूर्ण कर्म कैसे कर पायेगा ? जिस आहार से चित्त प्रसन्न होता हो, जो सत्ववर्धक हो वही आहार ग्राह्य है, उत्तम है, क्योंकि वह शरीर और मन दोनों को सात्विक और शांत कर्माचरण की समता प्रदान करनेवाला होता है। विवेकयुक्त कर्माचरण बुद्धि से प्रज्ञा की ओर प्रवास का पहला कदम है। अपने नित्य-जीवन को क्रियाओं के प्रति सजग रहना चित्त को जड़ता का विकार न होने देना तथा विक्षिप्त होने से बचाये रखना अध्यात्म मार्ग की यात्रा का पहला कदम है। अपनी क्रियाओं के प्रति सजग हो जाना यज्ञ है। परन्तु यज्ञ का आधार क्या होना चाहिए ? गीता कह रही है कि श्रद्धा रहित यज्ञ तामस होता है, जड़ होता है। वैसा कर्म अभ्यासवश

होता है, इसलिए सर्वथा यांत्रिक होता है। इसमें कोई शंका नहीं कि यांत्रिक क्रिया को विवेकयुक्त क्रिया नहीं कहा जा सकता। गीता फिर कहती है कि फलाकांक्षा से और दम्भ से जो यज्ञ होता है वह राजस है। उसके पीछे कुछ न कुछ फल पाने का या कुछ बनने का हेतु रहता है। उसे भी विवेकयुक्त कर्म नहीं कह सकते। फिर विवेकयुक्त कर्म क्या है? वह धर्म कौनसा है जिसे यज्ञ कीसंज्ञा दे सकें? गीता का यज्ञ शब्द वैदिक परम्परा में प्रचलित यज्ञ से भिन्न अर्थ का वाचक है। डा० राधाकृष्णन् कहते हैं :

—"वेदोक्त कर्मकाण्डवाची यज्ञ से गीता का यज्ञ भिन्न है। यह एक ऐसे कर्म का वाचक है जिसमें सर्वव्यापी परमात्मा की सेवा में अपनी समस्त सम्पदाओं और सेवाओं का पूर्ण समर्पण हो। ऐसी यज्ञभावना से भावित मनुष्य मृत्यु का भी सहर्ष वरण करेंगे, भले ही वह मृत्यु अन्यायपूर्ण क्यों न हो, ताकि उनके मरण से, उनके उस यज्ञ से संसार की उन्नति हो सके। सावित्री यमराज से कहती है कि सात्विक पुरुष अपने यज्ञ से और क्लेश-सहन के द्वारा धरती का धारण करते हैं।

अब प्रश्न है कि यज्ञीय कर्म किसे कहा जाय? वास्तविक विवेक से युक्त कर्म कौन सा है? यज्ञ मे होमद्रव्य का महत्व अधिक है। इसलिए वही यज्ञ उत्कृष्ट है जिस में यजमान स्वयं अपना ही हविष चढ़ाता है। जब तक 'स्व' का होम नहीं हो जाता, तब तक वह कर्म यज्ञ नहीं बन सकता। परन्तु 'स्व' के होम का अर्थ क्या है? उसका अर्थ है हर प्रकार की फलाकांक्षा का त्याग। 'स्व' की भावना प्रत्येक कर्म में फलासक्ति के रूप में अखण्ड रहती है—भले वह फल भौतिक हो या तथाकथित आध्यात्मिक। वास्तविक यज्ञ वह है जो शुद्ध कर्तव्यभावना से किया जाता है। फिर प्रश्न आता है कि कर्तव्य क्या है? कर्तव्य वह है जो दूसरों के लिए अवश्यकरणीय है। कर्तव्य-मात्र मे औचित्य होना चाहिए जो कर्तव्य होगा, वह औचित्य पूर्ण होगा ही। इस प्रकार यदि कर्तव्य का अर्थ दूसरों के लिए अवश्करणीय है, तो जब तक हम अपनी दृष्टि से संचित धारणाओं और पूर्वग्रहों का सम्पूर्ण त्याग नहीं कर देते हैं, तब तक स्पष्ट समझ नहीं पायेंगे कि वह करणीय क्या है। इस लिए यथार्थ कर्म में समस्त आत्मलक्षी धारणाओं को सर्वथा जला देना होगा। तो, अपनी समस्त क्रियाओं में मन के द्वारा प्रक्षिप्त सभी आत्मलक्षीतत्त्वों के प्रति निरन्तर सजग रहना ही सात्विक यज्ञ है। और इस प्रकार, गीता के

कथनानुसार, यज्ञार्थ या विवेकयुक्त कर्माचरण शाश्वत जीवन की दिशा में प्रवास का पहला कदम है।

पहला कदम सात्विक कर्म है,तो दूसरा कदम सात्विक तप है। कर्म शरीरगत है, तो तप भावगत है; अधिक सही शब्दों में, तप जीवन के भावात्मक तत्व से सम्बद्ध है। यहाँ भी गीता तप के तीन प्रकार बताती है—कायिक तप, वाचिक तप और मानसिक तप। गीता कहती है:

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।

—'देव, द्विज, गुरु, और ज्ञानियों की पूजा, शुचिता, ऋजुता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—ये शारीरिक तप कहलाते हैं।'

दूसरे शब्दों में आदरभाव, स्वच्छता, सरलता, संयम और अहिंसा—ये शारीरिक तप के पांच तत्त्व हैं। इन सब में मनुष्य की शक्ति के अपव्यय को रोकने पर बल दिया गया है। शक्ति का संचय करना और उसका सन्मार्ग में विनियोग करना शारीरिक तप का मुख्य लक्ष्य है। उपर्युक्त श्लोक मे गिनाये गये गुणों में अन्तिम चार शक्ति के संचयपरक हैं और प्रारम्भ में जिन चारों को पूजा का उल्लेख किया गया है वह उस संचित शक्ति के सद्विनियोग का मार्ग दर्शानेवाले हैं। कायिक तप का मुख्य लक्षण शक्ति का संचय और संचित शक्ति का सद्विनियोग है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यज्ञ का हार्द विवेक है तो तप का हार्द निष्कामता है। गीता ने निष्कामता का विचार उसके तीनों अंगों के साथ—काया, वाचा और मन को अनासक्ति का विचार किया है। व्यक्ति का अपने समाज के साथ सम्बन्ध इन्हीं तीन माध्यमों से आता है। निष्कामता-प्राप्ति के लिए मनुष्य को यज्ञ की प्राथमिक अवस्था से गुजरना ही होगा। हम ऊपर बता आये हैं कि गीता के अन्तिम इन दो अध्यायों में मन से प्रज्ञा तक के आरोहण का ही विचार किया जा रहा है। यह तो निश्चित है कि मन स्वयं अपने को प्रज्ञा में बदल नहीं सकता। परन्तु जब मन में से उसके अपने नीजी अंश निकल जायेंगे मन का वह पात्र खाली हो जायेगा, तब उसमें अपने आप प्रज्ञा का जल भरसकेगा। और यह खाली करने की ही बात गीता यज्ञ, दान, तप इन तीन साधनों के द्वारा कह रही है। यज्ञ में अपवित्र द्रव्यों का हवि नहीं चढ़ता है।

उनकी अपवित्रता दूर करनी होती है और उसके लिए यजमान को इस बात का सतत और सजग ध्यान रखना होता है कि उसका होमद्रव्य किसी प्रकार दूषित और अपवित्र न हो जाय। इसी दोष निरसन का अगला कदम है, तप, और तप में जीवन में से सभी गौण और तुच्छ तत्वों को हटाना होता है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप का उद्देश्य यही है। जहाँ तप में गौण और तुच्छ तत्त्वों का निरसन होता है, वहाँ दान मे प्रमुख और उत्तम तत्त्वों का भी विसर्जन करना होता है। क्योंकि अशुद्ध द्रव्य का दान दान ही नहीं है। इस प्रकार यज्ञ, तप और दान की प्रक्रियाएँ क्रमशः चित को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शून्य बनाने की प्रक्रिया है। यज्ञ विवेक-प्रक्रिया है, उसमें गौण-मुख्य का पृथक्करण किया जाता है। तप गौण का त्याग करने की प्रक्रिया है, और दान मुख्य का भी विसर्जन करने की प्रक्रिया है। इस प्रकार साधक अपना सर्वस्व त्याग कर सर्वथा निर्मल, निर्दोष हो जाता है।

हमने देखा कि कायिक तप मे शक्ति का संचय होता है। इससे यह सूचित होता है कि उस शक्ति का विनियोग देह के गौण तत्वों मे नहीं होना चाहिए क्योंकि गौणतत्वों में शक्ति का अपव्यय होता है। इसलिए कायिक तप में समस्त शारीरिक गौण कर्मों का त्याग गृहीत है। इसके बाद वाणी का तप आता है। गीता कहती है :

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।

—'जो वचन उद्वेगजनक न हो, सच्चा हो, प्रिय और हित हो, वैसा वचन तथा स्वाध्याय का सतत अभ्यास वाङ्मय तप कहलाता है।'

वाणी अनुद्वेगकर हो—यही वाङ्मय तप का प्रमुख लक्षण है। वह उद्वेग-जनक कब होती है? उद्वेगजनक तब होती है जब वह किसी न किसी प्रतिक्रिया के केन्द्र से निःसृत होती है यानी किसी दूसरे के विरोध मे उच्चारित होती है। प्रतिक्रिया अवहेलनात्मक हो सकती है या समर्थनात्मक, परन्तु प्रतिक्रिया के बिन्दु से निकली हुई वाणी किसी भी संवेदनशील चित्त में उद्वेग निर्माण करेगी ही। वाणी को यदि उद्वेगजनक न होने देना है तो, गीता कह रही है कि वह सत्य होनी चाहिए, प्रिय होनी चाहिए और हितकर होनी चाहिए। यहाँ सत्यता और प्रियता वाणी के प्रकारवाचक हैं, और हितकारिता वाणी के हेतुकी दर्शक

है। यह एक सर्वोत्तम नियम है कि वाङ्मात्र का हेतु पर हित ही होना चाहिए। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि वह हित भी ऐसी वाणी से अभिव्यक्त होना चाहिए जो सत्य और प्रिय है। वस्तुतः जो सचमुच हितकर होगा, उसकी अभिव्यक्ति असत्य और अप्रिय वाणी से हो ही नहीं सकता। इस प्रकार वाणी का तप यह सूचित करता है कि साधक को वाणी पर सदा पहरा रखना चाहिए और उसे हर प्रकार के गौण और तुच्छ अंशों से बचाये रखना चाहिए। वाणी से यदि गौण और व्यर्थ अंश निकल जाते हैं तो हमारी बहुत सारी बकवास अपने आप बन्द हो जायगी। अंग्रेजी में एक कविता है जिसका भाव यह है:

> वाणी को विदग्ध होने से अगर बचाना चाहो।
> बातें पाँच सावधानी, संयम से सहज निबाहो॥
> क्या कहना, किससे कहना, कैसे कहना यह जानो।
> कब कहना है, और कहाँ पर कहना है पहचानो॥

वाणी की सिद्धि के इच्छुक लोगों के लिए निस्संदेह यह बड़ा महत्त्वपूर्ण सलाह है। जिस वाणी के पीछे वास्तव में पर-हित का हेतु हो और जो सत्य हो और प्रिय कही गयी हो वह कभी उद्वेगजनक नहीं हो सकती। ऐसी वाणी बोलनेवाले को अपनी पूर्वकथित बातों के लिए बाद में कभी पछताना नहीं पड़ेगा। क्योंकि पश्चाताप का कारण ही नहीं रह जाता है। वाचिक तप के बाद गीता मानसिक तप पर आती है, क्योंकि मन को भी अपने गौण तत्वों का त्याग करना है। गीता कहती है:

> मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः
> भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।

—'मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्म-संयम, भावशुद्धि—यह मानसिक तप है।'

ध्यान देने की बात यह है कि गीता मौन को वाचिक तप का नहीं, मानसिक तप का अंग बता रही है। प्रायः मनुष्य वाणी का मौन रखता है, परन्तु उस का मन दसों दिशाओं में घूमता है। ऐसे मौन का कोई अर्थ नहीं है। बल्कि मन की बेलाग भटकन की स्थिति में वाणी का मौन रहना अतिभयानक

है, क्योंकि जब वह मौन टूटता है तब जो शब्द निकलेंगे वे श्रोता को इतना उद्विग्न करनेवाले होंगे कि जिस की हद नहीं।

यहाँ मानसिक तप के जो पाँच लक्षण बताये हैं वे मन की उत्तरोत्तर अधिक गहराई के सूचक हैं। प्रसन्नता चेतन मन के स्थिर होने का लक्षण है। चेतन मन की सारी उथल-पुथल रुक जाती है तो मन सौम्य हो जाता है। यह सौम्यता भी बड़ी मधुर और मोहक होती है। चेतन मन सदा विद्रोही होता है, हमेशा अपना अस्तित्व बनाये रखने की ताक में रहता है। किन्तु चेतन मन का यह विद्रोह समाप्त हो जाता है, तब वह सौम्य होता है। उस सौम्यता में एक मौन होता है और वह मौन मन के अधिक गहरे स्तर की वस्तु है। जब चेतन मन विद्रोह करना छोड़ देता है, तब अवचेतन मन भी शान्त हो जाता है, क्योंकि अवचेतन मन को शक्ति देनेवाला वही चेतन मन का विद्रोह होता है। फिर जब चेतन और अवचेतन दोनों मन शान्त हो जाते हैं तब सच्चा आत्मनिग्रह होता है। आत्मनिग्रह का अर्थ है मन की सम्पूर्ण मुक्ति। पूर्णतया मुक्त मन ही वास्तव में संयत मन है और वही मन किसी से बिना चिपके, कहीं बिना भटके, बिना बँधे सर्वत्र उन्मुक्त विचरण कर सकता है। मन की शुद्धि मन की निर्दोष अवस्था की द्योतक है। इस प्रकार कायिक, वाचिक और मानसिक तप अध्यात्मसाधक को आगे-आगे ले जाता है। फिर गीता कहती है :

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसम्......।

—'जो तप सत्कार, सम्मान, पूजा के लिए और दम्भ से किया जाता है, वह राजस तप कहलाता है।'

तप तो निष्कामता की प्राप्ति के लिए है, इसलिए जिस तप में सत्कार, सम्मान और पूजा पाने की या दिखावे की कामना होती है उस तप का कोई अर्थ नहीं है। फिर गीता यह भी कह रही है कि जिस तप में अज्ञानवश आत्मपीड़ा है, वह भी व्यर्थ है। कायिक, वाचिक या मानसिक कोई भी तप हो वह स्वाभाविक होना चाहिए, उसमें सहजता होनी चाहिए। जीवन के जितने भी गौण तत्त्व हैं, वे अपने आप अनायास मिट जाने चाहिए, क्योंकि तपाचरण के लिए जो साधना करनी होती है वह उन से दूषित होती है।

यज्ञ विवेक-प्रक्रिया है, तप कामना-त्याग की प्रक्रिया है, तो दान का आधार सच्चारित्र्य है : बल्कि दान और सच्चारित्र्य दोनों एक हैं। दान का अर्थ क्या

है ? क्या किसी को मोल दे देना ही दान है ? अपने पास जो वस्तु विपुल मात्रा में है, उस में से कुछ दे देना दान है ? समझ लेना चाहिए कि प्रचुर मात्रा में जो भी है वह निश्चित ही गौण वस्तु है। इसलिए गौण का दान दान नहीं है। दान तो जीवन के प्रमुख तत्वों को देने का नाम है। दान का लक्षण बताते हुए गीता कहती है :

> दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे
> देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।

—'जो दान कर्तव्य भावना से, प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखते हुए, देश काल और पात्र देखकर किया जाता है वह सात्विक दान कहलाता है।'

इस श्लोक में उल्लिखित दान में आत्मलक्षी तथा वस्तुलक्षी दोनों दृष्टियों का समावेश समझना चाहिए। वस्तुलक्षी दृष्टि काल और देश से सम्बन्धित है, और आत्मलक्षी दृष्टि पात्र से सम्बन्धित है। जिसे दान दिया जाता हो वह व्यक्ति दान स्वीकार करने के योग्य होना चाहिए, उस में पात्रता होनी चाहिए। यह पात्रता क्या है ? पात्रता का अर्थ यह है कि प्रदत्त वस्तु से उस व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिए। जहाँ तक पात्र की आवश्यकताओं का सम्बन्ध है, उसे दाता की रुचि-अरुचि से, दाता के राग-द्वेषों से सर्वथा अलिप्त और अस्पृष्ट रहना चाहिए। यानी सच्चा दान तभी सम्भव है जब उन में से वैयक्तिकता दूर हो जाती है। वैयक्तिकता का त्याग करना यानी जीवन के प्रमुख तत्वों का विसर्जन करना है। क्योंकि मनुष्य के लिए अपने अहं से बढ़कर प्रमुख दूसरी वस्तु नहीं है।

गीता आगे कहती है कि जो दान 'प्रत्युपकार की कामना से, फलाकांक्षा अथवा क्लेश के साथ किया जाता है, वह सच्चा दान नहीं है। मन मार कर जो दान किया जाता है, जिस दान से आदाता को चोट पहुँचती हो वह दान नहीं है। दान-क्रिया में पूर्ण औदार्य और आदर होना चाहिए। जिस दान के साथ मान न हो, उसे दान कैसे कहा जाय ? इसीलिए गीता कहती है कि अवज्ञा-युक्त दान-दान कहलाने योग्य नहीं है। दान देनेवाले के मन में उच्चता की भावना हो तो दान निगुण हो जाता है, सत्वहीन हो जाता है। वास्तव में दान सदा अज्ञात और अगोचर होता है। यदि उसमें अहं का लेश मात्र भी स्पर्श हुआ तो उसका महत्त्व नष्ट हो गया। इसी प्रकार जिस को दान दिया जा रहा

हो उसमें यदि हीनता का भाव जाग्रत हुआ तब भी दान मूल्यहीन हो गया, दूषित हो गया।

गीता कहती है कि 'ओं तत् सत्' ब्रह्म का श्रेष्ठतम प्रतीक है। समस्त यज्ञों, तपस्याओं और दानों का आधार यही मंत्र होना चाहिए। इस मंत्र का क्या अर्थ है? इन तीन शब्दों का जप करने का अर्थ है चित्त की तीन अवस्थाओं का अनुभव करना। 'ओ' जाग्रदवस्था का, 'तत्' स्वप्नावस्था का और 'सत्' सुषुप्तावस्था का प्रतीक है। ये चित्त की उत्तरोत्तर गहरी अवस्था के द्योतक हैं। यज्ञ में चित्त को जाग्रदवस्था में रखना चाहिए ताकि जीवन के गौण-मुख्य तत्त्वों का पृथक्करण हो सके। तप में चित्त की स्वप्नावस्था होनी चाहिए, जिससे कामना-त्याग के द्वारा जीवन के गौण तत्त्वों का नाश हो सके। दान में चित्त की सुषुप्त्यवस्था होनी चाहिए जिस में अहं के विसर्जन के द्वारा मनुष्य में सही भावों में सात्त्विकता प्रकट हो सके। ओं तत् सत् मंत्र को यदि केवल यांत्रिक हो कर निरर्थक नहीं हो जाना है, तो उस जप के साथ चित्त की गहरी अवस्थाओं का अनुभव होता जाना चाहिए। 'तत् सत्', 'ब्रह्म सत्यं' आदि शब्द कोरे और अर्थहीन नहीं हैं। यज्ञ, दान और तप का उद्देश्य ही अध्यात्म-मार्ग के यात्री को 'परसत्य' की प्रतीति कराना है। परन्तु यह प्रतीति तभी सम्भव है जब जीवन के सारे गौण अंश और मुख्य अंश भी पूर्णतया नष्ट हो जायें, जब आत्मा अहं से सर्वथा मुक्त हो जाय। यह हो जाने पर मनुष्य द्वन्द्वा-भिघात से छूट जाता है, व्यक्ति का संकल्प विश्व के संकल्प में अपनी पूर्णता देखने लगता है। गीता के अन्तिम और अठारहवें अध्याय में अध्यात्म की उसी पराकाष्ठा पर हम पहुँचते हैं, जहाँ व्यक्ति का संकल्प वैश्विक संकल्प में लीन हो जाता है, जहाँ हिमबिन्दु महासिन्धु में मिल जाता है, और अपने इस खो जाने में ही वह अपने को पाता है। महासिन्धु में हिमबिन्दु के इस मिल जाने में ही बिन्दु में सिन्धु के समा जाने का, पिण्ड के ब्रह्माण्ड बन जाने का दिव्य चमत्कार दृष्टिगोचर होता है : और यही आत्मा में ब्रह्म का अनुसन्धान है।

अष्टादश अध्याय

उभय संकल्प की एकात्मता

हिन्दू-वेदान्तदर्शन जिस ऊँचाई तक जा पहुँचा है, वहाँ तक शायद ही दूसरा कोई दर्शन जा सका होगा। इसमें कोई शंका नहीं कि जीवन के 'परम सत्य' में वेदान्त की छलांग बड़ी साहस-पूर्ण है, जहाँ से उसे नितांत क्रान्तिकारी सत्य उपलब्ध हुआ है और वह है ब्रह्म और आत्मा की एकता। मानव के अन्दर ईश्वरत्व विद्यमान है—यह निश्चित ही एक महान् तत्त्व है। मनुष्य में ईश्वर वास करता है, मनुष्य के हृद्देश में परमात्मा पाया जाता है। उपनिषदों और ब्रह्म-सूत्रों के ही समान भगवद्गीता भी एक वेदान्तग्रन्थ है। परन्तु आत्मा और ब्रह्म-विषयक अगाध और गम्भ तत्त्व का गीता का विवेचन बड़ा सरल और सुबोध है। शायद यही कारण है कि वर्षानुवर्षों से गीता सर्वाधिक लोकप्रिय वेदान्तग्रन्थ रही है। अध्यात्म-जीवन के प्रति गीता अपने सीधे-सादे और सहज-ग्राह्य सन्देशों के कारण संसार के असंख्य मानवों के लिए प्रेरणादायी सिद्ध हुई है। गीता ने अध्यात्म-साधक से अपनी साधना के लिए वन की शरण जाने को नहीं कहा; बल्कि उसने इसी बात पर बल दिया है कि वास्तव में सांसारिक नित्य-जीवन-कार्यों के माध्यम से ही आत्मदर्शन सम्भव है। गीता के उपदेशों का आधार मनुष्य के नित्यजीवन के आन्तरिक संघर्षों पर है; उसने मुख्यतया चित्त और उसकी समस्याओं का ही विचार किया है। जैसे प्रथम अध्याय में वर्णन आया है, अर्जुन की विप्रतिपन्न और विक्षिप्त मति को गीता सर्वथा प्रबुद्ध और आलोकमय अवस्था तक ले जाती है जिसका वर्णन इस अठारहवें अध्याय में किया जा रहा है। सामान्य 'मन से परा बुद्धि' तक के प्रवास का चित्रण अत्यन्त स्पष्ट और निस्सन्दिग्ध रूप से गीता में प्रस्तुत हुआ है। गीता बार-बार एक बात पर विशेष बल देती है और वह यह कि मनुष्य को आध्यात्म दृष्टि प्राप्त करने से पहले चित्त के समस्त आवरणों को हटा देना अत्यन्त आवश्यक है। जीवन के परम सत्य के साक्षात्कार के लिए गीता ने जो साधन सुझाया है वह संस्कारमुक्त चित्त और चित्त की तीव्र संवेदनशीलता ही है। आध्यात्मिक अनुभूति के विषय में एक सूफी के निम्न वचन स्मरणीय हैं। उसने कहा है :—

"सुख का द्वार खुलने के लिए अध्यात्मप्रवासी को अपने हृदय पर से त्रिविध आवरण हटाने होंगे : पहला यह कि यदि उस मनुष्य के अपने परम पुण्य के फलस्वरूप दोनों लोक हाथ में आ जायँ, तो भी वह उनसे हर्षित न हो; क्योंकि जो मनुष्य इस सृष्टि के कमनीय वस्तुओं से उल्लसित होता है वह स्वयं कामना-मय होता है और जो कामनामय होता है वह ईश्वर को जान नहीं पाता है। दूसरा यह कि यदि किसी का दोनों लोक प्राप्त हो गये हों और फिर वे उससे छिन जाते हों, तब उसे उनके लिए शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि यह क्रोध का लक्षण है और क्रोध सदा यंत्रणादायी होता है। तीसरा यह कि मनुष्य को किसी प्रकार की स्तुति या प्रशंसा से मोहित नहीं होना चाहिए, क्योंकि मोहित होना अत्यन्त तुच्छ स्वभाव का लक्षण है और सत्य को आवृत करनेवाला यही मोह होता है।"

सूफी ने जो तीन आवरण बताये हैं, वे तीन गुण हैं जिनका बार-बार उल्लेख गीता कर रही है। सूफी इस बात पर जोर देते हैं कि अध्यात्ममार्ग के प्रवासी को सुख-दुःख दोनों से परे तो होना ही चाहिए, परन्तु यही पर्याप्त नहीं है, उसे मोह का आवरण भी हटाना चाहिए, तभी वह मत्युक्त दोषयुक्त होगा। श्री कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया है उसका सार-सर्वस्व यही है कि सदोष को निर्दोष बनाया जाय। चित्त को दूषित करनेवाले ये तीन गुण ही हैं। जो पुरुष तीनों गुणों से परे होता है वही अध्यात्मयुक्त पुरुष है। उस पुरुषको कर्म से कोई भय नहीं है, क्योंकि उस के कर्मों में बन्धनकारक शक्ति नहीं होती। इस अठारहवें अध्याय में इन तीनों गुणों के सभी पहलुओं पर समग्र रूप से विचार किया गया है। यहाँ त्रिविधज्ञान को तथा त्रिविध कर्म की सांगोपांग चर्चा है : त्रिविध कर्ता का और त्रिविध बुद्धि का विस्तृत विचार है। सुख और धृति के तीन प्रकारों का विवेचन है। गीतोक्त अभ्यासयोग का मुख्य विषय चित्त का गुणातीत होना है। इसी सन्दर्भ में इस अध्याय का प्रारम्भ संन्यास और त्याग के विश्लेषण से हुआ है। अर्जुन इन दोनों का भेद जानना चाहता है, तब श्री कृष्ण कहते हैं :

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।

—'ज्ञानी-विद्वज्जन काम्यकर्मों के त्याग को संन्यास मानते हैं और समस्त कर्मों के फलत्याग को त्याग कहते हैं।'

इस प्रकार संन्यास में अमुक कुछ कर्म छोड़ने होते हैं और त्याग में समस्त कर्मफल छोड़ने होते हैं। यह सही है कि कर्मफल छोड़ देने पर कुछ कर्म स्वयमेव छूट जाते हैं, इसीलिए त्याग में किसी कर्म को छोडने की बात नहीं है, क्योंकि कई कर्म ऐसे होते हैं जिन के फल की कामना छोड देने पर उन कर्मों को करने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

सब से पहले श्री कृष्ण त्रिविध त्याग की चर्चा कर रहे हैं। वे हैं: १. फलत्याग; २. आत्मकर्तृत्व के विचार का त्याग; और ३. परमेश्वर को ही समस्त कर्मों का कर्ता समझना। गीता कह रही है कि जो व्यक्ति कर्तव्यकर्म का त्याग कर देता है वह तामसी वृत्ति का है। वैसा मनुष्य अपने आलस्य को ढँकने के लिए संन्यासका नाम लिया करता है। केवल आलस्य और जड़ता के कारण कर्तव्यकर्म न करना चित्तमोह का लक्षण है। इसी प्रकार कायक्लेश के भय से कर्तव्यकर्म का त्याग करना राजसी वृत्ति का लक्षण है। वस्तुतः ऐसे त्याग के पीछे जीवन में आश्वासन और सुरक्षा पाने का हेतु रहता है। गीता कहती है कि वास्तविक ज्ञानी वह है जो 'अप्रिय कर्म से द्वेष नहीं करता और प्रिय कर्म में अनुरक्त नहीं होता'—न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते। वास्तविक त्याग रागद्वेषमुक्त हो कर कर्तव्यकर्म करने में ही है।

परन्तु प्रश्न उठता है: यदि राग और द्वेष दोनों न रहें, तो क्या कोई कर्म उत्साह और आस्था के साथ किया जा सकता है? राग भी न हो और द्वेष भी न हो, तो क्या कर्ता उदासीन नहीं हो जाता? समझने की बात यह है कि पूरे हृदय से, रुचि के साथ, जो कर्म किया जाता है उस में कर्ता न उदासीन होता है, न उस में कर्ता का अपना हस्तक्षेप होता है। प्रायः हम जब किसी काम में उदासीन नहीं होते हैं, तब उस में हस्तक्षेप अवश्य करते हैं जिस से वस्तु के स्वाभाविक गुण-धर्म को बिगाड देते हैं; क्योंकि वस्तु जैसी है वैसी हम ग्रहण नहीं करते। और यदि यह सोचते हैं कि वस्तु जैसी है वैसी ही ग्रहण करें, तब उससे उदासीन हो जाते हैं। लेकिन वास्तविक रुचि इन दोनों अवस्थाओं के बीच की है। उस में न उदासीनता होती है, न हस्तक्षेप होता है। उदासीनता तमोगुण का लक्षण है और हस्तक्षेप रजोगुण का। इस प्रकार उदासीन भाव से किए जानेवाले कर्म को हम जड़ कर्म कह सकते हैं और हस्तक्षेपयुक्त कर्म को भावाविष्ट कर्म कह सकते हैं। कर्मों का एक तीसरा भी प्रकार है जिसमें न कर्ता का हस्तक्षेप होता है, न उदासीनता। फिर भी उस में कर्ता

का एक सूक्ष्म अहंकार होता है जो अहंपावित्र्यभावना से (सेल्फ राइटियसनेस) उत्पन्न होता है। 'लाइट आन दि पाथ' का लेखक कहता है कि 'अहंपावित्र्यभावना से युक्त व्यक्ति अपने लिए स्वयं दलदल निर्माण कर लेता है।' इस प्रकार उसके समस्त कर्मों की जड़ दलदल में होती है। मन हमेशा धर्महीनता और धर्माभिमान के दो विपरीत बिन्दुओं के बीच घूमता रहता है। शिशुतुल्य विशुद्ध दृष्टि के दर्शन तो न उदासीनता में होंगे, न हस्तक्षेप में, और न धर्माभिमान-जन्य अहंभाव में होंगे। विशुद्ध दृष्टिवाला पुरुष तो वह है जो कर्मफल का त्याग कर चुका है। उसके मन में कर्म के विषय में न तो राग होता है, न द्वेष; इसीलिए उसके कर्म निष्काम होते हैं, अहैतुक होते हैं। जैसे गीता कहती है—'देहधारी के लिए समस्त कर्मों का त्याग करना असंभव है।' न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। बन्धन निर्माण करनेवाले कर्म नहीं हैं, कर्मफल है। जो चित्त कर्मफल में आसक्त होता है वह कालवश हो जाता है, क्योंकि कर्मफल भविष्य-कालिक होता है परन्तु कर्म का आचरण वर्तमान में होता है। फिर पर कर्मों के फल की कल्पना तो भूतकाल के स्मरण पर आधारित होती है। इस प्रकार कर्मफल पर दृष्टि रखनेवाला चित्त वर्तमान में निश्चित ही विक्षिप्त होता है। उसके कर्म सदा अपूर्ण रहनेवाले हैं; वह एक अपूर्ण कर्म से दूसरे अपूर्ण कर्म में कूदता रहता है। मनुष्य के बन्धन का कारण इन्हीं अपूर्ण कर्मों का आकर्षण है। कर्म की पूर्ति कृति की दीर्घता पर निर्भर नहीं है, कृतिविषयक चिन्तनप्रक्रिया पर अवलम्बित है।

गीता कहती है कि सभी कर्मों के पाँच कारण होते हैं। एक होता है अधिष्ठान, जो कि कर्म का हेतु है; क्योंकि हेतु में से ही सभी कर्म निष्पन्न होते हैं। फिर कर्ममात्र का एक कर्ता होता है; यह वही अहंभाव है जो कर्म करते समय मनुष्य में हुआ करता है। कर्म के निमित्तकारण अनेक होते हैं। वे अभिव्यक्ति के माध्यम हैं; वे विचारात्मक हो सकते हैं वाणी या इन्द्रिय-विषयात्मक हो सकते हैं। इन माध्यमों के अतिरिक्त कर्म-व्यापार भी कई होते हैं, जिन्हें गीता 'चेष्टा' कहती है। चेष्टा को गीता विविध बता रही है। सचमुच व्यापार तो असंख्य प्रकार के हैं। कर्म का एक और अंग है 'दैव', जो अप्रत्यक्ष है। उसे मनुष्य का भाग्य भी कह सकते हैं। वह निश्चित ही मनुष्य को पूर्वकालिक चित्तवृत्ति-परम्परा (सायकोलाजिकल हैरिडिटी) से प्राप्त होता है। प्रत्येक कर्म के पीछे यह परम्परागत तत्व चलता है।

ऊपर हम ने कहा कि हेतु कर्म का अधिष्ठान है। हेतु और प्रेरणा का भेद समझ लेना चाहिए। प्राणियों का तथा आदिमानव का व्यवहार प्रेरणामूलक होता है। प्रेरणा क्षण-क्षण बदलती रहती है। परन्तु हेतु नित्य और अखण्ड होता है। हेतु को यह नित्यता प्रदान करनेवाला अहं होता है। और यही समस्त कर्मों का उद्गम स्थान है।

इन पाँच कर्मांगों के विषय में गीता कहती है।

शरीरवाङ्‌मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः

—'शरीर से, वाणी से तथा मन से मनुष्य जो कर्म प्रारम्भ करता है, वह न्यायसंगत हो चाहे तद्विपरीत उसके ये पाँच हेतु हैं।'

गीता के अनुसार कर्म केवल शारीरिक क्रिया नहीं है, वाङ्मय और मनोमय व्यापार का भी कर्म में समावेश होता है सभी प्रकार के कर्मों में ये पाँचों अंग विद्यमान हैं। यद्यपि ये पाँचों के पाँचों अंग सभी कर्मों में होते हैं, फिर भी उनका स्वरूप और उनका महत्व भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। शुद्ध कर्म का अधिष्ठान निष्काम होता है, और उसका दैव कोई वैयक्तिक अचेतन नहीं वैश्विक अचेतन होता है। सम्यक्कर्म के कर्त्ता में विलक्षण परिवर्तन होता है, क्योंकि उसके 'अहं' में सभी प्रकार की अहन्ता नष्ट हो जाती है। सम्यक् कर्म के 'कारण' अत्यन्त संवेदनशील होते हैं, और उनको 'चेष्टाएं' समृद्ध और सम्पन्न होती हैं। यद्यपि सर्वत्र ये पाँचों अंग रहते हैं, फिर भी उन कर्मों की श्रेणी के अनुसार उन अंगों का स्तर भी भिन्न २ होता है। गीता के निम्न श्लोक में शुद्ध और अशुद्ध कर्म का अन्तर ध्यान देने योग्य है। गीता कहती है :

तत्रैवं सति कर्तारं आत्मानं केवलं तु यः
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।

—'ऐसी स्थिति में, जो अकृत-(अशिक्षित) बुद्धि होने के कारण अपने को ही कर्ता मानता है, वह दुर्बुद्धि सही-सही नहीं देखता है।'

अशिक्षित या अपरिपक्व बुद्धिवाला मनुष्य वह है जिसकी दृष्टि मोहावृत है। उस का चित अप्रबुद्ध है, आलोकहीन है, उस में प्रज्ञारश्मि का उदय नहीं हुआ है। वह व्यक्ति समस्त कर्मों का अपने को ही कर्त्ता मानता है : वह शायद

ही समझ पाता है कि वह अनेक प्रकार के संस्कार-बन्धनों से जकड़ा हुआ है, दैव से अर्थात् वैयक्तिक अचेतन से वह आच्छादित है। वही मनुष्य अपने चित्त के संस्कारों को देख पाता है जो स्वयं मुक्त होता है—उस का पृथक् अस्तित्व अवश्य रहेगा; परन्तु वह'अहंता' से मुक्त होगा—अहं से मुक्त होगा। यही बात निम्न श्लोक में स्पष्ट की गयी है।

> यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते
> हत्वापि स इमाँ ल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते

—'जो अहंभाव से मुक्त है, जिस की बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन समस्त लोकों का संहार करके भी न हनन करता है, न बद्ध होता है।'

बुद्धि को कलुषित करनेवाला अहंकार होता है. अहंभाव से ही दृष्टि मोहावृत होती है। इसी प्रसंग में गीता कर्मों के प्रेरक तत्वों और अंगों का विश्लेषण कर रही है। श्री कृष्ण कहते हैं।

> ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधि कर्मचोदना
> करणं कर्म कर्तेति त्रिविधिः कर्मसंग्रहः।

—'कर्म के प्रेरक तीन हैं—ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता, कर्म के तीन अंग हैं—करण; क्रिया और कर्ता।'

इस श्लोक में ज्ञान तथा कर्म के कर्ता का, कर्म का तथा इन दोनों के सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। कर्म को निश्चित ही ज्ञान से प्रेरणा मिलती है, परन्तु स्वयं ज्ञान एक ऐसी मिश्र प्रक्रिया है जो ज्ञाता और ज्ञेय के संयोग से निष्पन्न होता है, इस में कोई शंका नहीं कि कर्म मात्र की पृष्ठभूमि में ज्ञान निहित होता ही है। इस लिए यह नितांत आवश्यक है कि मनुष्य यह परख ले कि उस की पृष्ठभूमि शुद्ध है या अशुद्ध। यह ज्ञेय और ज्ञाता के सम्बन्ध को जान लेने पर ही सम्भव है। इसी का अर्थ है कि यह तभी सम्भव है जब हम स्वयं ज्ञान-प्रक्रिया का ही विश्लेषण करें। कर्म के भी तीन अंग हैं—कर्ता, क्रिया और करण। क्रिया का साधन करण कहलाता है: उसी से क्रिया सम्पन्न होती है। करण अत्यन्त प्रमुख अंग है, क्योंकि साधन में ही सिद्धि निहित है। चूँकि साधन और साध्य दोनों भिन्न नहीं हैं; इस लिए अशुद्ध साधन से शुद्ध साध्य साधित नहीं हो सकता। अब हमारे जीवन के कोने-कोने में, कण-कण में और

अस्तित्व मात्र में जो 'अहं' छिपा हुआ है उसे सोचने के लिए मनुष्य या तो ज्ञान-प्रक्रिया का परीक्षण कर सकता है या साधन के गुणधर्म का निरीक्षण कर सकता है। ज्ञान मार्ग का अनुयायी ज्ञान प्रक्रिया के शोधन का अवलम्बन करेगा, तथा कर्ममार्ग का साधक अपने कर्म-साधनों में अहं को परखना पसंद करेगा।

इस अठारहवें अध्याय में गीता ने ज्ञान और कर्म का विस्तृत विवेचन किया है। दोनों की सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन-तीन श्रेणियाँ हैं। ज्ञान के सम्बन्ध में गीता कहती है:

> सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते
> अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।

—'देखनेवाला जिस ज्ञान से समस्त भूतों में एक अविनाशी भाव को देखता है और विभक्तों में अविभक्त को देखता है, उस ज्ञान को सात्विक समझो।'

ज्ञान के जिस स्तर में मनुष्य विविधता में एकता को देखता है वह ज्ञान सात्विक है। ऐसे ही, गीता कह रही है कि जो ज्ञान केवल विविधता को ही देख पाता है, उनमें एकत्व को नहीं देखता, वह राजसज्ञान है; परन्तु तामस ज्ञान वह है जो अंश को ही अंशी या पूर्ण समझ लेता है। अब प्रश्न है कि यदि गीता तीनों गुणों को पार करने की बात कहती है, तो वह ज्ञान कौन सा है जो सात्विक भाव से भी परे हो? क्या विविधता में एकता को देखने से भी परे कोई स्थिति हो सकती है? गीता कह रही है कि सत्वातीत या त्रिगुणों से परे ज्ञान वह है जिससे सृष्टिमात्र में 'अनन्य' का दर्शन हो। इस प्रकार ज्ञान की चतुर्विध श्रेणियाँ बतायी जा सकती हैं—अनन्यज्ञान, सृष्टिज्ञान, विशिष्ट ज्ञान और अंश ज्ञान। इनमें जो अन्तिम तीन श्रेणियाँ हैं वे ही सात्विक, राजस और तामस ज्ञान हैं: और पहली श्रेणी परज्ञान की है।

फिर कर्म के भी सात्विक, राजस और तामस—तीन विभाग बताये गये हैं। गीता कहती है:

> नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्
> अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते।

—'जो कर्म नियत हैं अर्थात् नियोजित हैं, आसक्तिरहित हैं फलनिरपेक्षवृत्ति से रागद्वेषमुक्त स्थिति में किये गये हैं वे सात्विक कर्म कहलाते हैं।'

सात्विक कर्म वह है जो विशुद्ध कर्तव्यभावना से किया जाता है, जिसके पीछे भावात्मक अथवा निषेधात्मक कोई आसक्ति नहीं होती। उस प्रकार का कर्म वही कर सकता है जिसे फल की आकांक्षा नहीं है। श्री कृष्ण आगे कहते हैं कि जिस कर्म में 'आयासबहुलता' हो, अत्यधिक श्रम करना पड़े, तथा फलप्राप्ति पर दृष्टि रख कर जो कर्म किया जाता है वह राजस कर्म है। इसका अर्थ यह कि सात्विक कर्म वही हो सकता है। जो सहज हो, अनायास हो, जिसमें क्लेश न हो। जब भी अमुक परिणाम की सिद्धि के लिए विशेष प्रयास करना पड़ता हो, उससे क्लेश और दुःख अनिवार्य रूप से पैदा होता है, क्योंकि प्रयासमात्र के पीछे फलासक्ति होती है, कामना होती है। फिर गीता कहती है कि 'क्षमता और परिणामों का विचार किये बिना' जो कर्म किये जाते हैं वे तामस कर्म हैं। इसका अर्थ यह कि तामस व्यक्ति कर्म के न आत्मलक्षी पहलू पर ध्यान देता है न वस्तुलक्षी पहलू का ख्याल करता है। आत्मलक्षी पहलू कर्ता की क्षमता से सम्बन्धित है, और कर्म का परिणाम उसका वस्तुलक्षी पहलू है। जब कर्ता अपनी सामर्थ्य और क्षमता का विचार नहीं करता है और यह नहीं देख लेता है कि कर्म का परिणाम क्या होने वाला है, उस स्थिति में किया जानेवाला कर्म निश्चित ही तामस कर्म है। यहाँ भी प्रश्न उठ सकता है कि क्या ऐसा कर्म हो सकता है जो सात्विक श्रेणी से भी परे हो? गीता ने कहा है कि सात्विक कर्म वह है जो नियत है, व्यवस्थित है और कर्तव्यबुद्धि से आचरित है। लेकिन एक कर्म वह भी होता है जो कर्तव्यबुद्धि को भी पार कर जाता है। वह कर्म प्रेम से उत्स्फूर्त होता है। प्रेममूलक कर्म में और नियममूलक कर्म में अन्तर है; करुणामूलक कर्म और होता है और उपकार बुद्धि से किया जाने वाला कर्म और। जो कर्म प्रेम से स्फुरित होता है उसमें यह चमत्कार है कि वहाँ कर्ता का पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता। प्रेममूलक कर्म में कर्ता और कर्म का द्वैत समाप्त हो जाता है। यही कर्म परम कर्म है, गुणत्रयातीत कर्म है।

स्मरण रखना चाहिए कि गीतोक्त ये तीनों गुण मनुष्य के चित्तकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। तम से रज में, और रज से सत्व में जाने का अर्थ है अधिकाधिक गहराई में जाना; अथवा यह भी कह सकते हैं कि सजगता या सावधानता को अधिकाधिक तीक्ष्ण और उत्कट बनाना। इन तीनों की तुलना चेतना की तीन अवस्थाओं—जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के साथ की जा सकती है। तुरीय अवस्था चित्त से सम्बन्धित नहीं है। वह परा बुद्धि की

अवस्था है। गीता ने कहीं भी परा बुद्धि की व्याख्या नहीं की है, क्योंकि उसकी व्याख्या करना सम्भव नहीं है। व्याख्या करने बैठे कि मन में एक आकृति —विशेष या अमुक कोई धारणा कल्पित होती है। परा बुद्धि तो सब प्रकार के धारणामूलक ज्ञान से परे है। इस लिए गीता इतना ही कह कर समाप्त करती है कि गुणों को पार करना चाहिए उसके बाद क्या होगा, यह केवल अनुभव करने की बात है, व्याख्या करने की नहीं।

इसके बाद गीता कर्ता के सात्त्विक, राजस, तामस प्रकारों का विवेचन करती है। कर्ता का प्रथम प्रकार बताते हुए कहती है :

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः
सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते

—'जो आसक्ति से मुक्त है, अहंभावरहित है धृति और उत्साह से युक्त है, सिद्धि और असिद्धि के प्रति विकारमुक्त है वह सात्त्विक कर्ता कहलाता है।

सात्त्विक कर्ता में दृढ़ता और उत्साह होते हैं, विफलता प्राप्त होने पर वह दृढ़ता खोता नहीं ; और सफलता प्राप्त होने पर भी उत्साह बनाये रखता है। इस का कारण यह है कि उसमें अहंभाव नहीं होता है। चेतना के स्तरों के अनुसार अहंता के भी विभिन्न प्रकार होते हैं। तामसिक अवस्था में अहन्ता अजागृत रहती है ; राजसिक अवस्था में वह आग्रही और तीव्र होती है ; और सत्वावस्था में सौम्य और मृदु होती है। जिस अन्तिम अवस्था में अहं अत्यन्त सौम्य हो जाता है, मृदुतम बन जाता है, इसी को मुक्तसंग यानी आसक्ति से मुक्त कहा है। राजस कर्ता के बारे में गीता कहती है वह प्रक्षुब्ध रहता है। उसमें इच्छा-अनिच्छाओं का प्राबल्य रहता है और इसीलिए उसके सुख-दुःख भी तीव्र होते हैं। राजस कर्ता में स्थिरता की अपेक्षा गतिमत्ता अधिक दिखाई देती है। इसीलिए उसकी अहंता आक्रामक होती है। तामस कर्ता को गीता 'प्राकृत' कहती है, वह असभ्य होता है, संस्कारहीन होता है ; आलस्य और जड़ता के कारण वह बड़ा ही मंद होता है। उस के लिए गीता ने दीर्घसूत्री शब्द का प्रयोग किया है, जिसका आशय है कुछ करने से बचने के लिए धागा लंबाते जाने वाला। यानी वह प्रत्येक कर्तव्य को आगे टालते जाने की फिराक मे रहता है। चूँकि उस की अहंता अजागृत है, इस लिए वह बेहद निठल्ला होता है, पूर्ण निष्क्रिय होता है। कर्ता का भी एक और प्रकार है, जो सत्वावस्था से परे है। वह सौम्य अहंता को पार कर चुका होता है। उस

की अहन्ता पूर्णतया लुप्त हो चुकी होती है, उसका अस्तित्व अहंशून्य होता है। यद्यपि वह अनुपम है, फिर भी वह एकाकी नहीं है।

. गीता इस अध्याय में ज्ञान का बड़ा मूलगामी विचार कर रही है। ज्ञान की भी तीन श्रेणियाँ हैं, या यों कहें कि भावार्थ की तीन श्रेणियाँ हैं। जड़ बुद्धि को किसी भी वस्तु का ज्ञान या भावार्थ स्पष्ट नहीं होता है। वह जो भी देखती है, विपरीत ही देखती है। उस का वह देखना उस की आदत के अनुसार होता है। इसलिए स्वभाववशता उस के ज्ञान की विशेषता है। वह मनुष्य सद्-असद् का विवेक नहीं कर पाता है। जो राजस बुद्धि होती है, उस के ज्ञान का क्रम बदलता जाता है। उस में विचार-चक्र निरन्तर घूमता रहता है। वह सर्वदा अपने राग-द्वेषों को वस्तुओं पर आरोपित करती जाती है, इस लिए व्यक्तियों और वस्तुओं को वह सही रुप में नहीं देख पाती। प्रत्येक पर वह किसी न किसी प्रकार की विशेषता का आरोप करती है। राजसबुद्धि के दृष्टान्त के तौर पर बताया जाता है कि वह रज्जु को सर्प समझती है। सात्विक बुद्धि तेज और जागरुक होती है। सात्विक बुद्धि की विलक्षणताक्षमता का वर्णन इस प्रकार गीता कर रही है:

> प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभय
> बन्धं मोक्ष च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी।

—जो बुद्धि प्रवृति और निवृत को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को, बन्धन और मोक्ष को जानती है, हे पार्थ 'वह बुद्धि सात्विक है।'

जागृत या जागरुक बुद्धि द्वन्द्वों को स्पष्ट और पृथक्-पृथक् समझने की क्षमता रखती है। निस्सन्दिग्ध ज्ञान जागरुक बुद्धि का अनिवार्य लक्षण है। प्राप्त परिस्थिति का या समस्या का अत्यन्त स्पष्टता के साथ विश्लेषण कर सकना ही बुद्धि का मुख्य काम है। वैसा विश्लेषण तभी सम्भव होगा जब समस्या के या प्रसंग के दोनों बिन्दुओं को बुद्धि स्पष्ट देख सकेगी। जब बुद्धि दोनों बिन्दुओं का विश्लेषण कर देती है तब उसका काम समाप्त हो जाता है, क्योंकि वही उस के काम की पराकाष्ठा है। सत्य के साक्षात्कार के लिए बुद्धि की भावात्मकता की ही तरह उस की अ—भावात्मकता की भी आवश्यकता है। भावात्मक बुद्धि समस्या का निरूपण करती है, तो अ—भावात्मक बुद्धि उस समस्या का निराकरण करती है। भावात्मक बुद्धि से किसी समस्या का

परिहार करने का प्रयत्न विफल ही होनेवाला है। बुद्धि तो समस्या का मात्र निरूपण कर सकती है, परिहार नहीं कर सकती। परिहार तो ब—भावात्मक बुद्धि से करना होता है। प्रसिद्ध प्लास्टिक सर्जन डा० मैक्सवेल माल्ट्ज़ ने 'साइको सायबरनेटिक्स' नामक एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। उसमें वे कहते हैं कि चेतन मन का काम यह है कि वह समस्या का विश्लेषण करे। विश्लेषण करने के बाद समस्या को अचेतन मन के हाथों सौंप दे; क्योंकि, वे कहते हैं, चेतन मन के द्वारा स्पष्ट की गयी समस्या का सामाधान अचेतन मन नहीं कर सकता, और उसे स्पष्ट करने का काम चेतन मन का है। चेतन मन समस्या का स्पष्ट विश्लेषण तभी कर सकेगा जब वह पूर्णतया जागरूक रहेगा। गीता में जागरूक बुद्धि का यही लक्षण बताया गया है कि वह प्रवृत्ति और निवृत्ति को जानती है, कर्तव्य और अकर्तव्य को पहचानती है। दूसरे शब्दों में सात्विक बुद्धि द्वन्द्व के दोनों बिन्दुओं को स्पष्ट जानती है। ऐसी स्पष्ट-ज्ञान-सम्पन्न बुद्धि के पास समस्याओं का सामाधान स्वयं आता है—वह उस लोक से आता है जहाँ बुद्धि की पहुँच नहीं है। सात्विक बुद्धि द्वारा निरूपित और स्पष्टीकृत समस्याओं का सामाधान सुझानेवाली परा बुद्धि होती है, और वही 'सार्वभौम अचेतन' है। जड़ या तामस बुद्धि द्वन्द्वों के दोनों बिन्दुओं को एक साथ नहीं देख सकती, एक के एक के बाद एक को देखती है, इसीलिए द्वन्द्व को समझ नहीं पाती। राजस बुद्धि में भी द्वन्द्वों का स्पष्ट निरूपण और पृथक् विश्लेषण करने की क्षमता नहीं है, क्योंकि उससे प्राप्त होनेवाला ज्ञान व्यामिश्र होता है, अपृथक् होता है। सात्विक बुद्धि ही द्वन्द्वों को एकसाथ, स्पष्ट और पृथक्-पृथक् देख सकती है।

इस पृष्ठभूमि में गीता चित्त की धृतिशक्ति का विवेचन कर रही है। धृति के कई स्तर हैं। जब तक इन स्तरों को ठीक से समझ नहा लेते हैं, तब तक कोई भी व्यक्ति या वस्तु-विषयक ज्ञान अस्पष्ट ही रहनेवाला है। जड़ बुद्धि में एक प्रकार की दृढ़ता होती है; सक्रम या जागरूक बुद्धि की दृढ़ता भिन्न प्रकार की होती है; तो अवधानयुक्त बुद्धि की दृढ़ता तीसरे प्रकार की होती है। ये ही तामस, राजस, सात्विक धृतियाँ हैं। वास्तव में जड़बुद्धि की दृढ़ता धृति नहीं है, क्योंकि वह बुद्धि की गतिहीन अवस्था है, जड़ता की स्थिति है। जिस जलाशय में जल संचित पड़ा हुआ हो, वह बाहर से स्थिर और शान्त दिखाई देगा, परन्तु उसके नीचे तह में अपार पंकराशि जमी होती है। उस पंक के ही

कारण यह जल निष्कम्प होता है। गीता कहती है कि इस प्रकार की दृढ़ता तमः प्रधान होती है।

> यथा स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च
> न विमुंचति दुर्मेधा धृतिरसा पार्थ तामसी।

—'जो मूढ़ धृति निद्रा, भय, शोक, दुःख, और मद को छोड़ नहीं पाती, हे पार्थ, वह तामस धृति है।'

वह ऐसी धृति है जो अभ्यास के कारण बनी होती है। जड़ बुद्धि के मूल में निष्क्रियता होती है। वह चित्त की क्रियाहीन अवस्था है। राजस धृति दूसरी होती है। वह जागरुक बुद्धि की धृति है। बुद्धि जब किसी वस्तु-विशेष से अपने को एकरूप बना लेती है, तब उस एक रूपता के कारण उसमें एक प्रकार की दृढ़ता उत्पन्न होती है। परन्तु वह क्षणिक होती है। जीवन के अविरल प्रवाह के कारण यह दृढ़ता या धृति बार-बार विचलित होती रहती है। जब भी वस्तु-विशेष के साथ एकरूपता बनती है, तब उसकी परिधि के बाहर की मोहक और कमनीय वस्तुओं का आकर्षण सदा बना रहता है। ज्यों-ज्यों यह एक रूपता प्रबल और गहरी होती जाती है, त्यों-त्यों वह आकर्षण सूक्ष्म और अगोचर होता जाता है। इसीलिए उसमें एक प्रकार की स्थिरता प्रतीत होने लगती है। परन्तु यह स्थिरता या धृति ऊपर-ऊपर की होती है, क्योंकि वस्तुविशेष के साथ का एकरूपता कभी भी टूट सकती है; और ज्यों ही यह टूटी, त्यों ही द्वन्द्वों का संघर्ष आरम्भ हो जाता है और वह संघर्ष भयानक रूप धारण कर लेता है। राजस धृति का वर्णन गीता निम्न शब्दों में कर रही है :

> *यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन*
> *प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।*

—'जिस धृति से धर्म, अर्थ, और काम को धारण किया जाता है और हे अर्जुन, तत्परिणामस्वरूप उनके फल की आकांक्षा रखनेवाली वह धृति राजसी है।'

फलाकांक्षी व्यक्ति अपने प्रयोजन के प्रति दत्तचित्त रहता है, क्योंकि उसकी दृष्टि एक मात्र फल प्राप्त करने की ओर रहती है : इधर-उधर भटकती नहीं

है : अभिलषित फल के साथ एकरूप होने के कारण यह धृति उत्पन्न होती है। जो व्यापारी या उद्योगपति होते हैं उनकी धृतशक्ति, बुद्धि की उनकी दृढ़ता बड़ी प्रबल होती है, लेकिन उसका मूल स्रोत आन्तरिक न होकर बाह्य परिस्थिति में होता है, इसलिए वह आसानी से डिग जाती है ; बिखर जाती है। वह धृति व्यस्ततायुक्त चित्त की धृति है : इसलिए एक बार वह कार्यव्यस्तता हट गयी कि चित्त बिखर जाता है, अशान्त हो उठता है। चित्त को दृढ़ रखने के लिए जब तक किसी व्यस्तता की आवश्यकता होगी तब तक वह चित्त अस्थिर और व्यग्र ही रहनेवाला है। इससे श्रेष्ठ एक और धृति होती है जिसका वर्णन सात्विक धृति के नाम से गीता कर रही है। गीता कहती है :

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिस्सा पार्थ सात्त्विकी।

—'हे पार्थ, जिस अविचल धृति से योग के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाएं धारण की जाती हैं वह सात्विक धृति है।'

यही अवधान-युक्त चित्त की धृति है। यहाँ गीता योग के द्वारा मन के व्यापारों के धारण की बात कर रही है। धृति की व्याख्या करते हुए डा० राधाकृष्णन् कहते हैं—"अवधान की स्थिरता को, जोकि हम में सजगता बढ़ानेवाली है, अपनी सामान्य दृष्टि से हम नहीं देख पाते हैं। अतीत विषयक खेद और भविष्य विषयक कुतूहल के प्रति जिस मात्रा में अनासक्ति होगी उसी अनुपात में धृति की शक्ति कम-अधिक होती है।"

अवधान की दृढ़ता तभी सम्भव है जब मन विक्षेपों से मुक्त हो। जैसे डा० राधाकृष्णन् कहते हैं, यह भी तभी सम्भव है जब अतीत के प्रति खेद और भावी के प्रति कुतूहल समाप्त होता है। दूसरे शब्दों में, अवधान की स्थिति में रहनेवाले चित्त को वर्तमान में ही काम करना होगा—कालगत वर्तमान मे नहीं, मनोवृत्तिगत वर्तमान में। यह एक रोचक तथ्य है कि तामस धृति का आधार अतीत ही होता है, वह उन आदतों और स्वभावों में बद्धमूल होता है जो भूतकालिक हैं। राजस धृतिका आधार भविष्य होता है क्योंकि मनुष्य की आकांक्षाओं और उपलब्धियों का विषय भविष्यकालिक होता है। परन्तु सात्विक धृति का आधार वर्तमान है। वह भूतकालिक आदतों से तथा भविष्यकालिक प्रलोभनों के संघर्ष से मुक्त रहता है। ये हैं जड़ चित्त को, अहन्तायुक्त चित्त की धृति के लक्षण।

ध्यान रखने की बात यह है कि धृति के लिए एक प्रकार के सन्तुलन की अपेक्षा रहती है; द्वन्द्वसमता की आवश्यकता होती है। तामसधृति के पीछे जो समता होती है वह मानरहितता के कारण होती है। राजसधृति के पीछे द्वन्द्व के किसी एक बिन्दु के साथ चित्त के एकरूप हो जाने के कारण सन्तुलन होता है। और सात्विक धृति के पीछे की द्वन्द्वसमता दोनों बिन्दुओं के बीच समन्वय के कारण होती है। सिद्धान्त और प्रतिसिद्धान्त के बीच जो समाधान वह स्थापित कर लेती है उसके कारण होती है। धृति से परे एक अवस्था और है, वह है मौनावस्था : चित्त जब सम्पूर्ण अवधान की अवस्था में आ जाता है, सर्वथा अवहित हो जाता है, तब उसमें मौन स्वयमेव आ जाता है : वह मन का मौन नहीं है. 'अज्ञात' लोक का मौन है वह मौन वरदान के समान होता है जो भूत-भविष्य के खिंचावों से मुक्त मन को ही प्राप्त होता है।

धृति की चर्चा हमें सहज ही सुख के प्रश्न पर पहुँचा देती है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि सात्विक, राजस, तामस विभाग मानवों के विभाग नहीं हैं, मनुष्य की चित्तवृत्ति के विभाग हैं। यह कहना उचित नहीं कि कुछ लोग जन्म से ही तामस होते हैं, कुछ लोग राजस होते हैं और अन्य सात्विक होते हैं। सत्व, रज, तम, तो चित्त के संस्कार हैं। जैसे ये चित्त की अवस्थाएँ हैं, वैसे ही सुख के भी स्वभाव हैं। चित्त जिस अवस्था का होगा उसका सुख भी उसी स्वरूप का होगा। तम प्रधान चित्त को कल्पनालोक में, मनोराज्य में बड़ा सुख मिलता है। वह हवाई किले बांधा करता है और आँखों पर पट्टी बाँधे उसी लोक में जीता रहता है। वह उस व्यक्ति के जैसा होता है जो औषधिविशेष का सेवन करके कृत्रिम आनन्द भोगा करता है। गीता ऐसे तामस लोगों के सुख का वर्णन निम्न शब्दों में कर रही है :

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।

—'जो सुख आरम्भ में तथा अन्त में भी आत्मा को मोहग्रस्त करनेवाला है और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से निष्पन्न हुआ है वह तामस सुख कहलाता है।'

चित्त जब जड़ता से हटकर संघर्ष की तथा अशान्ति की स्थिति में पहुँचता है, तब उसके सुख की धारणा भी बदलती है। रज-प्रधान चित्त को उद्रेक और

उत्तेजना में सुख मिलता है। उत्तेजना ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, उस से उस चित्त को त्यों-त्यों सुख अधिकाधिक मिलता जाता है। उद्रेक और उत्तेजना मनुष्य को प्रारम्भ में बड़ा सुख देती है, लेकिन अन्त में उतनी ही ग्लानि और अवसाद पैदा कर देती है। उत्तेजना आखिर स्नायुओं में तनाव पैदा करता ही तो है। इसलिए जो उत्तेजना का शिकार होता है उसे हम स्नायविक विकारों और मानसिक रोगों कि बलि होते देखते हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों उत्तेजना का आदी होता जाता है त्यों-त्यों उसकी तृष्णा प्रबल होती जाती है। इस सुख का वर्णन करते हुए गीता कहती है कि यह सुख 'आरम्भ में अमृततुल्य लगता है, परन्तु अन्त मे विषसमान हो जाता है।' तो सात्विक सुख कैसा होता है ? गीता कहती है :

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।

—'जो सुख प्रारम्भ में विषावत होता है, परन्तु परिणाम में अमृतसदृश होता है, तथा जो आत्मज्ञान की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है वह सात्विक सुख कहलाता है।

प्रारम्भ में सुख के विषवत् होने का अर्थ क्या है ? यही कि सुखानुभव की आवश्यकता में इस बात का भान नहीं रहता है कि मैं सुख भोग रहा हूं। जब सुख का भान नहीं रहता है, तब आनन्द की स्थिति में वह परिणत होता है। —आनन्द मन का नहीं, बल्कि वह, जो परम अचेतनावस्था में प्राप्त होता है : जो विषवत् प्रतीत होता है उससे मनुष्य अलिप्त रहता है और इस लिए वह अन्त में परम सुख प्राप्त करता है। वास्तविक सुख वही है जो अलिप्तता मे से निपजता है।

परन्तु वास्तविक प्रश्न यह है कि मनुष्य वह परम सुख कैसे प्राप्त करे जो स्थिर है, जो कालवश हो कर नष्ट नहीं होता ? इस प्रसंग में गीता अध्यात्म-साधकों को एक अत्यन्त महत्व का सुझाव दे रही है। उस के लिए वह स्वभाव और स्वधर्म का, 'होने' और बनने का विश्लेषण प्रस्तुत करती है। स्वभाव मनुष्य की 'स्थिति' है, 'होना' है, मौलिक तथा अकल्पित प्रकृतिधर्म है। 'स्वधर्म' मनुष्य की 'आकांक्षा' है, 'बनना' है, जो 'होना' से उद्भूत होता है; जो स्थिति से निष्पन्न होता है। यह मनुष्य का जीवनकार्य है। इस प्रकार

सुख की चर्चा के सिलसिले में गीता मनुष्य के जीवन धर्म और जीवन कार्य की ओर ध्यान आकर्षित कर रही है। कहती है :

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः

—'मनुष्य अपने-अपने कर्म में निरत रह कर सिद्धि प्राप्त करता है।'

मनुष्य को स्वधर्म के ही मार्ग से चलकर सिद्धि प्राप्त करनी होती है। परन्तु स्वधर्म पर चलने से पहले उसे अपने स्वभाव को जान लेना होगा। इस लिए प्रश्न यह है कि स्वभाव को कैसे जाना जाय। इस का एकमात्र उपाय यही है कि वह अपने समस्त आरोपित गुण-धर्मों को निकाल दे। मन में 'आकांक्षा जो हुआ करती है, उस का 'बनना' जो है, उसका मूल यही आरोपित गुण-धर्म है, जो वास्तव में निपट आत्मवंचना है, कुण्ठा पैदा करने वाला है। प्रायः हम को काल अन्तहीन प्रतीत होता है जिसमें 'बनने' की प्रक्रिया जारी है, क्योंकि हमारी बनने की आकांक्षा स्वभावगत नहीं होती। आरोपित गुण-धर्म के आधार पर जो आकांक्षा बनती है, उस पर चलकर सिद्धि प्राप्त करने के लिए अपार शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन सिद्धि तो ऐसी होनी चाहिए जैसे कोई फूल खिलता है; उतनी ही सहज, उतनी ही स्वाभाविक और अनायास होनी चाहिए। कविवर रविन्द्रनाथ कहते हैं—'कली के खिलने की क्रिया अत्यन्त सौम्य होती है'। फूल खिलता है अनायास : बल्कि उसका पता नहीं चलता है। सिद्धि भी उतनी ही सहज, सौम्य और अनजाने ही होनी चाहिए। परन्तु इस प्रकार से सहज और सौम्य सिद्धि की दिशा मे प्रवास करना तभी शक्य होगा जब मनुष्य अपने आरोपित स्वभावों से मुक्त होगा, ताकि वह अपने मूल स्वभाव में स्थित रह कर काल की परली सीमा तक बिना अनायास के, बिना परिश्रम के, और बिना कुण्ठा के प्रवास कर सके। सिद्धि से पहले मुक्ति तो प्राप्त होनी ही चाहिए, अन्यथा जो मनुष्य अपने आरोपित मिथ्या स्वभाव की कामनाओं पर भूलता रहता है वह क्या जाने सिद्धि को? उस मूल स्वभाव को गीता ने 'स्वभाव' शब्द से व्यक्त किया है। इसी अध्याय में हम आगे देखेंगे कि मनुष्य अपने आरोपित स्वभाव से किस प्रकार मुक्त हो सकता है। उस से पहले यह देखें कि गीता के स्वधर्म शब्द का आशय क्या है।

गीता ने चतुर्विध वर्णधर्म का वर्णन किया है : वे हैं—ब्राह्मणधर्म, क्षत्रिय धर्म, वैश्यधर्म और शूद्रधर्म। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र अपने समाज के

क्रमशः शिक्षक, रक्षक, पोषक और सेवक होते हैं। यह मनुष्य का कर्तव्यमूलक विभाजन है। परन्तु इसके पीछे जो मनोधर्म निहित है वह भी स्पष्ट है। इन चारों वर्णों का महत्व व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों पहलुओं से है। उस के सामाजिक स्वरूप में समाज धारणा का विचार व्यक्त होता है। उस में वास्तविक लोकतन्त्र के बुनियादि सिद्धान्तो की प्रस्थापना है; जैसे डा० राधाकृष्णन् कहते हैं: "समाज एक कर्ममूलक संगठन है। जो भी कर्म समाजोपयोगी हैं, सामाजिक स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य हैं; उन सब को सामाजिक प्रतिष्ठा समान होनी चाहिए। प्राणवान् और जीवन्त समाजव्यवस्था में भिन्न-भिन्न क्षमताओं वाले व्यक्ति एक दूसरे से जुडे होते हैं। लोकतंत्र कोई एक रूपता लाने का प्रयत्न नहीं है—वह असम्भव भी है—बल्कि विविधताओं के समन्वय और सामंजस्य का नाम लोकतंत्र है।"

विविधताओं के सुन्दर सामंजस्य का चित्र इस चतुर्वर्ण्य-विभाजन में देखने को मिलता है। परन्तु यहाँ चातुर्वण्य के इस सामाजिक संदर्भ का प्रभाव विचार नहीं है। यहाँ वैयक्तिक सन्दर्भ में विचार किया गया है। यहाँ के वर्ण विभाजन में हमें केवल सामाजिक सामंजस्य ही नहीं देखना है, व्यक्ति की समग्रता भी देखनी है। वस्तुतः व्यक्ति की समग्रता के बिना सामाजिक सामंजस्य भी असम्भव है। तो, जब यह विचार करें कि चातुर्वण्य की दृष्टि से व्यक्ति की समग्रता का अर्थ क्या है।

मानव प्रकृति के चार अंग हैं–भौतिक, प्राणिक, मानसिक और बौद्धिक। कुछ समय के लिए अध्यात्मिक अंग को छोड़ दें। इन चारों अंगो के बीच परस्पर संवाद और संगति होनी चाहिए: अन्यथा मनुष्य का जीवन अनन्त संघर्षों का अखाड़ा बन जाय। भौतिक अंग का सम्बन्ध चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत शूद्रवर्ण से है। मनुष्य को अपने भौतिक जीवन में शूद्र बनकर रहना चाहिए। इस का अर्थ यह है कि उसे शारीरिक श्रम करना चाहिए और सदा कर्मरत रहना चाहिए। यदि उस के मन में शरीरश्रम के प्रति तुच्छता का भाव रहता है, तो वह न केवल अपने जीवन को, बल्कि समाज-जीवन को और अपने समाज सम्बधों को भी कलुषित करता है: वह शूद्र को समाज की चाकरी करनेवाला मानने लगता है: और उसे हीन समझने लगता है फिर कर्मो का अलग-अलग श्रेणियो में विभाजन करता है, और कर्मभेद के अनुसार

उनकी प्रतिष्ठा के भी अलग-अलग स्तर कायम करता है। समाज के अन्दर अशान्ति पैदा होने का और समाज धारणा के शिथिल होने का एकमात्र कारण यही कर्म भेद के अनुसार प्रतिष्ठा भेद का रूढ़ होना है। समाज में इस प्रतिष्ठाभेद को मिटाने के लिए मनुष्य को अपने भौतिक जीवन में शूद्र बन कर कर्मरत रहना अनिवार्य है। सामंजस्यपूर्ण समाजधारणा के लिए यह अत्यावश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य कोई भी शारीरिक श्रम बिना लज्जा के और बिना हीन भावना के करने को तैयार रहे।

इसी प्रकार प्राणिक जीवन के लिए मनुष्य को वैश्य का काम करना होगा। वैश्य पोषक है; प्राणवृत्ति में मनुष्य को पोषक बनना चाहिए। वह जहाँ भी जाय, उसे संवेदनशील और सजग रहना होगा। रोगी की शुश्रूषा करना, दरिद्रों को खिलाना, दुर्बलों की सेवा करना, पशुओं को आश्रय देना—ये सब क्रियाएँ मनुष्य को सहज क्रिया बननी चाहिए: हिन्दू धर्म में यह एक प्रथा प्रचलित थी कि गृहस्थ को पंच यज्ञ किये बिना भोजन करने का अधिकार नहीं है। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ मनुष्य यज्ञ और अदृश्यजीवों का तर्पण—ये थे पंच यज्ञ। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुसार समाज के सम्बन्धों में वैश्यधर्म का पालन किस प्रकार करना होता है।

फिर व्यक्तिगत जीवन में मानसिक स्तर पर मनुष्य को क्षत्रिय भी बनना है। क्षत्रिय लोकरक्षक माना जाता है। प्राचीन भारत में क्षत्रिय राजा अपनी प्रजा का पिता माना जाता था। गीता क्षत्रिय का वर्णन निम्न श्लोक में कर रही है:

> शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्
>
> दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।

—'शूरता, तेजस्विता दृढ़ता, दक्षता, युद्धों में पराङ्मुख न होने की वृत्ति, उदारता, स्वामित्व की भावना—ये सब क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म हैं।'

शूरता, उदारता और दूसरों की रक्षा के लिए सिद्ध रहना निश्चित ही मानसिक परिपक्वता के लक्षण हैं। रक्षण को रक्षा के लिए कटिबद्ध रहना ही वास्तव में सच्चा क्षत्रिय-धर्म है। इसके लिए केवल शौर्य ही नहीं, उदारता और दक्षता भी आवश्यक है। जो मनुष्य हृदय से पूर्ण संवेदनशील होगा वही औरों को वास्तविक सहारा दे सकेगा।—'वायस आफ दिसायलेंस' में श्रीमती एच० पी० ब्लावेट्स्की क्षात्रवृत्ति का सुन्दर वर्णन निम्न शब्दों में करती हैं—

—"पीड़ित की पीड़ा की एक-एक कराह को सुनने के लिए तुम्हारे प्राण उसी तरह उन्मुख रहें जिस तरह प्रभातकालीन सूर्यरश्मियों का पान करने के लिए खिलता कमल अपना हृदय खोले रहता है। कहीं ऐसा न हो कि दुखी के यातनाभरे आँसुओं को तुम्हारे पोंछने से पहले सूर्य की उष्ण रश्मियाँ सुखा दें।"

यह कैसे सम्भव हो सकेगा यदि मनुष्य में असाधारण संवेदनशीलता न हो? 'अन्यायपूर्ण आक्रमण का साहस के साथ मुकाबिला करना' क्षत्रिय का धर्म है। वह स्वयं आक्रामक नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं ईश्वरी राज्य का रक्षक है, पोषक है।

इसके बाद मानव की चित्तभूमि का एक और अंग है, बौद्धिक अंग इस का सम्बन्ध ब्राह्मणधर्म से है। मनुष्य को केवल श्रमिक नहीं रहना है; केवल पोषक या केवल रक्षक ही नहीं रहना है; बल्कि उसे शिक्षक भी बनना है। गीता के निम्न श्लोक में शिक्षक या गुरु के लक्षण दिये गये हैं :

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।

—'शान्ति, संयम, तपस्या, स्वच्छता, सहिष्णुता, ज्ञान, विज्ञान और श्रद्धा ये ब्राह्मण के स्वभावजन्य कर्म हैं।'

मनुष्य को बौद्धिक क्षेत्र में भी सम्पन्न होना चाहिए, क्योंकि वह 'केवल अन्न से ही नहीं जीता है'। बौद्धिक क्षेत्र बहुत विशाल है। उसमें न केवल भौतिक विज्ञान, धर्म और दर्शन आते हैं, बल्कि कलाएँ और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का भी समावेश होता है। संस्कृत में एक श्लोक है: साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः। ब्राह्मण अपने नानाविध कलानैपुण्य के लिए प्रसिद्ध हैं। प्राचीन भारत के गुरुकुलों में, शिष्य अपने गुरुओं से अनेक प्रकार के विज्ञान, शास्त्र, दर्शन और कलासम्बन्धी विद्याएँ ग्रहण करते थे। उस समय के गुरु केवल शास्त्र-पण्डित ही नहीं होते थे। उनके ज्ञान की परिधि में सकल विद्याएँ और कलाएँ तो आती ही थीं बल्कि वे अपने अन्तेवासियों में उदारदृष्टि और विश्वभावना का निर्माण करते थे जो सच्चे ब्राह्मण का असाधारण वैशिष्ट्य माना जाता था।

इस प्रकार समाज-धारणा के ही समान व्यक्तिगत जीवन में संगति और सामञ्जस्य स्थापित करने की दृष्टि से भी चातुर्वर्ण्य का विशेष महत्व है। वहीं

मनुष्य समग्र व्यक्तित्व से सम्पन्न और सामंजस्यपूर्ण है जिसमें एकसाथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के सभी धर्म समान रूप से विद्यमान हों। वह व्यक्ति अपने समाज की आवश्यकता और कालस्थिति के अनुरूप भिन्न-भिन्न कर्मों में लगे रह कर भी कार्यगत भेदों को जानते हुए भी उनमें किसी प्रकार की उच्च-नीच का भाव आने नहीं देगा और तब उसके द्वारा समाज में किसी तरह की अशांति या संघर्ष उत्पन्न नहीं होने देगा।

अब प्रश्न यह है कि क्या मानव-चित्त के भौतिक, प्राणिक, मानसिक और बौद्धिक ये चार ही अंग हैं? उसका आध्यात्मिक अंग क्या है? मनुष्य का आध्यात्मिक अंग इस चातुर्वर्ण्य से परे है, संन्यास के नाम से वह एक स्वतंत्र कोटि है। संन्यासी इन चारों वर्णों में किसी वर्ण का नहीं होता था। समाज में प्रचलित कोई विधि-विधान या आचार-नियम उस पर लागू नहीं होता था। वह अपना नियामक स्वयं होता था। यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि समाज का आध्यात्मिक गुरु ब्राह्मण नहीं होता था, वह कोई ऋषि या मुनि होता था। ब्राह्मण हर प्रकार के बौद्धिक विद्याओं का दाता होता था, लेकिन आत्मविद्या की दीक्षा तो ऋषि या मुनी ही दे सकता था। इस प्रकार अध्यात्मवाला अंग चातुर्वर्ण्य से परे और उनसे श्रेष्ठ है। जो मनुष्य अपने में समग्र होता है, सर्वांग-पूर्ण होता है वही आत्मविद्या का अनुभव प्राप्त करने की योग्यता रखता है। और समग्र और सर्वांगपूर्ण व्यक्ति वह है जिसमें भौतिक, प्राणिक, मानसिक तथा बौद्धिक अंग समृद्ध और सम्पन्न हैं।

यहाँ एक बात की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है और वह यह कि जब हम कहते हैं कि व्यक्ति के अन्दर चारों—भौतिक, प्राणिक, मानसिक और बौद्धिक अंग समान रूप से एकसाथ रहने चाहिए, तब यह भी सत्य है कि उन चारों से कोई एक अंग दूसरे तीनों की अपेक्षा विशेष प्रधान होगा। वह जो प्रधान अंग होगा, वही उसकी आत्माभिव्यक्ति का प्रमुख और सहज माध्यम होगा। अभिव्यक्ति के इसी सहज माध्यम के आधार पर मनुष्य का मूल स्वभाव पहचाना जा सकेगा। गीता ने जिसे 'स्वभाव' कहा है वह यही है और उसी से उसका 'स्वधर्म' निश्चित होता है। गीता कहती है कि 'प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कर्म में रत रहते हुए सिद्धि प्राप्त करता है'—स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः। सिद्धि का सारा अवलम्ब मनुष्य के स्वधर्म-निर्वाह पर है। श्री कृष्ण कहते हैं :

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।

—'स्वधर्म गुणहीन हो तो भी सम्यक्-अनुष्ठित परधर्म से उत्कृष्ट है, श्रेयस्कर है। जो मनुष्य स्वभाव-नियत कर्म का आचरण करता है वह पापभागी नहीं होता है।'

यहाँ गीता स्पष्टतः स्व-कर्म का अर्थ बतलाती है। उसका कहना है कि स्वकर्म वह है जो 'व्यक्ति के स्वभाव से नियत' होता है। अगले श्लोक में 'सहज' शब्द का प्रयोग करके यही अर्थ वह अधिक स्पष्ट कर रही है। सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्—'हे कौन्तेय, सदोष होने पर भी, सहज कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।' सहज शब्द का अर्थ है स्वाभाविक, स्वतः सिद्ध, अन्तः स्फूर्त। वर्णचतुष्टय व्यक्ति की मनोवृत्ति के द्योतक हैं। यदि ये वृत्तियाँ उसके मूल स्वभाव से निःसृत न हों, तो वे मात्र अनुकरण हैं, उनमें कोई सौन्दर्य नहीं होता, कोई आकर्षण नहीं रहता। अपने मूल स्वभाव को पहचानना चित्त की अत्युन्नत अवस्था है। परन्तु वह अवस्था प्राप्त कैसे हो? इस विषय में डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं—

"यहाँ (गीता में) जिस अत्युन्नत अवस्था का वर्णन किया गया है, वह ईश्वर में प्रवेश करने जैसी विधायक क्रिया नहीं है, सकल कामनाओं का त्याग करने की निषेधक क्रिया है।"

मूल स्वभाव को खोजने के लिए मनुष्य को निषेधात्मक मार्ग का अनुसरण करना होगा। यह वह मार्ग है जिस पर चल कर मनुष्य अपने समस्त आरोपित स्वभावों का विसर्जन करता जाता है। आरोपित स्वभावों का विसर्जन करते-करते वह अपने मूल स्वभाव को खोज लेता है। इस आरोपित स्वभाव को ही गीता 'परधर्म' कह रही है। परधर्म को, जिसे हमने गलती से अपना लिया है, ठीक से पहचान लेना ही स्वधर्म को जानने की दिशा में बढ़ना है। गीता कह रही है कि 'संन्यास से परम सिद्धि प्राप्त होती है।' परम सिद्धि मूल स्वभाव को जान लेने के सिवा कुछ नहीं है। क्योंकि आत्मा और ब्रह्म दोनों एक हैं। इस लिए आत्मा को जानना ब्रह्म को जानना है। आत्मसाक्षात्कार ही ब्रह्मसाक्षात्कार है।

गीता जिस निषेधात्मक प्रक्रिया का वर्णन कर रही है, वह वस्तुतः 'महत्ता

और हिंसा का, गर्व और कामना का, क्रोध और परिग्रह का त्याग ही है। क्रोध, गर्व और हिंसा प्रतिकार की उत्तरोत्तर तीव्र प्रक्रिया हैं; तो परिग्रह, काम, और अहन्ता लिप्सता की उत्तरोत्तर गहरी अवस्था है। इन छहों लक्षणों में मुख्यतया दो वृत्तियाँ अन्तर्निहित हैं और वे हैं स्वीकार और तिरस्कार। परम सिद्धि प्राप्त करने के लिए इन दोनों का त्याग करना अनिवार्य है। इसी स्वीकार और तिरस्कार में से मनुष्य का आरोपित स्वभाव बनता है। मनुष्य जिन सामाजिक संबंधों के परिवेश में पलता है वहाँ वह कुछ बातों का स्वीकार करना और कुछ का तिरस्कार करना सीखता ही है और इसी स्वीकार और तिरस्कार की सीमा में वह अपने आरोपित स्वभाव का सारा ढांचा खड़ा करता है मनुष्य को अपने मूल स्वभाव को जानने के लिए आरोपित स्वभाव का विसर्जन करना आवश्यक है, तो फिर उसे अपनी इस स्वीकार और तिरस्कार की प्रक्रिया का परीक्षण करना होगा। यह जानना होगा कि वह कुछ बातों को कैसे स्वीकार करता है और क्यों करता है, तथा अन्य कुछ बातों का तिरस्कार कैसे करता है और क्यों करता है। इस कैसे और क्यों का समाधान खोजते-खोजते वह अपने आरोपित स्वभाव की सारी रचना का रहस्य जान सकेगा। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रक्रिया के पीछे चित्त की सक्रियता काम करती है, क्योंकि चित्त ही है जो स्वीकार, तिरस्कार आदि सब किया करता है। इस लिए इस सारी प्रक्रिया में लगे हुए चित्त का परीक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है, तो, इस चित्तवृत्ति का परीक्षण कैसे किया जाय ? चित्त-व्यापारों और उसके स्वीकार-तिरस्कारों जानने के लिए पहले चित्त को देखना होगा, उसका निरीक्षण (आत्मवेक्षण) करना होगा। तब प्रश्न आता है कि चित्त के निरीक्षण का वास्तविक अर्थ क्या है ?

चित्त के निरीक्षण का अर्थ है चिन्तन के सभी क्षेत्रों को देखना—केवल चेतनावस्था के नहीं, अचेतनावस्था के भी, अचेतन का जो व्यापार चेतन के द्वारा प्रकट होता है, वही दिखाई देता है लेकिन चेतन मन जब अपनी प्रतिरोध-वृत्ति को छोड़ देता है, तब अचेतन स्वयं खुल कर सामने आ जाता है। तो, इस प्रकार चिन्तन के सभी क्षेत्रों को देखने का अर्थ हुआ चेतन मन के सारे विचारों को देखना, तथा चेतनमन के सारे अवरोधों के हटने के बाद अचेतन मन द्वारा प्रेषित समस्त संकेतों को देखना।

मनोव्यापारों को देखने का पहला काम विचारात्मक होता है, मन के सूक्ष्म

निरीक्षण के लिए यह देखना अत्यावश्यक है कि मन में किस प्रकार के विचार उठा करते हैं। हम शायद ही जान पाते हैं कि मन में क्या-क्या चलता रहता है। मन के द्वार खटखटानेवाले उसके प्रिय साथियों का प्रवाह दिन'रात, चौबीसों घंटे अबाध गति से जारी रहता है। उनमें से कुछ वहाँ आकर बस जाते हैं, और कुछ प्रेमालाप करके कुछ समय बाद चले जाते हैं। हमे उन सब प्रेमियों की सूची रखनी होगी जिससे पता चले कि हमारे मन के मीत कौन हैं, कैसे हैं, उन में कौन घनिष्ठ है और कौन साधारण या मतलबी है। इम निरीक्षण की प्रक्रिया में पहले उन विचारों का स्वरूप जान लेने के बाद मनकी गति या रुझान को जानना होगा। जिस प्रकार बाहर के मित्र मिलने के लिए मन के पास आते हैं, उसी प्रकार मन भी प्रेममिलन के लिए बाहर जाया करता है। लेकिन एक बात सच है कि मन जाता है केवल घनिष्ठ मित्रों के पास ही। इस लिए यह जानना अत्यावश्यक है कि वे कौन मित्र हैं जिनके पास मन स्वयं जाता है। मन के रुझान को जानने से इसका पता चल सकता है। एक बार मन को खुला छोड दीजिए, जहाँ मर्जी हो वहाँ जाने दीजिए, तब वह अपने चिर परिचित मित्रों के यहाँ तो जायेगा ही, साथ ही कुछ अन्य स्थानों पर भी जायेगा। उससे यह मालूम हो जाये गा कि चेतन मन के कार्यरत रहते समय अचेतन मन में क्या चल रहा होता है। फिर निरीक्षण का तीसरा विषय है विचारों की प्रेरणा। प्रायः हम अनुभव किया करते हैं कि हमारी भावना और विचार अचानक उद्विग्न हो जाया करते हैं उत्तेजित हो उठते हैं। कभी-कभी तो हम अकारण ही अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव करते हैं, तो कभी-कभी अनजाने ही दुखी और विषण्ण हो जाते हैं। इस प्रसन्नता और विषाद से यह स्पष्ट मालूम करने का अवसर मिलता है कि मन के अन्दर क्या-क्या चल रहा है। यह जाँचना होगा कि ये भावावेग कब और कैसे उठते हैं। क्या देहस्थिति से उनका कोई सम्बन्ध है ? या मन को किन्हीं खास अनजानी आदतों के कारण ऐसा होता है ? कुछ दृश्य ऐसे होते हैं जिनको देखकर सहसा हम उदास हो जाते हैं ; कुछ ऐसे भी होते हैं जो हम में उल्लास भर देते हैं। इस का क्या करण है ? इस तरह से विचारो की प्रेरणा का विश्लेषण करने लगते हैं तो सहज ही हम विचारों के भाव-साहचर्य(असोसियेशन) पर आ पहुचते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारों के भाव-साहचर्य का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए। इस साहचर्य के पीछे मन की प्रवृत्तियों और आसक्तियों का लम्बा इतिहास होता है। मुक्तभाव से बिना किसी अवरोध के, विचार-साहचर्य का परीक्षण करते-करते मन के पूरे चरित्र

का' उसके अनुराग-विरागों का, उस की सफलता-विफलताओं का और उसके अपने हेतु और आकांक्षाओं का अध्ययन करने लगते हैं। स्वप्न में जो बातें दिखायी देती हैं उन का आशय भी इसी साहचर्य के अध्ययन के द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है। मनोभावों का शोध करने के लिए स्वप्न भी बड़े उपयोगी हैं। विचारों के साहचर्य को समझने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है मनो व्यापार के क्षेत्र में सदा विचार-संघर्ष विद्यमान है। साहचर्य की प्रक्रिया में ही, हम देखते हैं, अमुक कुछ विचारों का प्रतिरोध रहता है। इस प्रतिरोध के कारण मन लड़ाई का मैदान बन जाता है वह लड़ाई अक्सर घमासान हो जाया करती है, यह विचार-संघर्ष प्रायः पुरानी आदत के कारण होता है, तो कुछ नये कारणों से भी होते हैं, लेकिन उन सब के प्रति हमें जागरूक रहना चाहिए। यह निश्चित है कि संघर्ष-मात्र का मूल कुछ 'बनने' की आकांक्षा में है और यह आकांक्षा जो 'है' उस में जो 'होना' चाहते हैं, उसमें जाने की इच्छा का नाम है।

दूसरे शब्दों में यह संघर्ष वस्तुस्थिति और आदर्श का संघर्ष है, क्योंकि आदर्श ही कुछ बनने की सारी प्रक्रिया की अन्तिम मंजिल है। इस प्रकार ये विचार-संघर्ष हमें आदर्शों और महत्वाकांक्षाओं के प्रश्न पर पहुँचाते हैं। आदर्श के दो पक्ष होते हैं—विधायक और निषेधक और ये ही मन के स्वीकार और तिरस्कार हैं। इस प्रकार मनोव्यापार का परीक्षण करने के लिए हमें अपने आदर्शों के विधायक और निषेधक दोनों पहलुओं का, आदर्श की सारी रचना का आमूल परीक्षण करना होगा। यह परीक्षण तभी संभव होगा जब चित्त के प्राथमिक निरीक्षण की क्रिया समाप्त हो चुकी होगी, अर्थात् विचार का स्वरूप, विचार की गति, विचार की प्रेरणा, विचार का साहचर्य और विचार का संघर्ष ये सब पहले देख लेने होंगे। इन सब का आमूल परीक्षण करने पर हम में यह समझने की सामर्थ्य आ जायेगी कि हम ने पर-धर्म को कैसे अपनाया और स्वधर्म से कैसे भ्रष्ट हुए। आरोपित स्वभाव के मूल में आश्वासन खोजने की वृत्ति होती है। क्योंकि आश्वासन के खो जाने के भय से ही मनुष्य समाज की बाह्य परिस्थितियों से मेल साधने के लिए नये-नये उपाय खोजता रहता है —चाहे वह परिस्थिति भौतिक हो या आन्तरिक। मनुष्य को इस बात की आशंका रहती है कि समाज की बदलती परिस्थितियों के अनुरूप यह न बन पाया, तो हो सकता है कि वह कहीं का न रहे। इस लिए वह अपना स्वभाव

बदल लेता है जिससे उसकी आशा दृढ़ होती है कि वह समाज की बदली हुई परिस्थिति में भला और योग्य सिद्ध हो सकता है। यह सच है कि समाज के साथ अनुरूप साम लेना आवश्यक होता है, लेकिन इस लिए या तो अपने स्वभाव को समाज के अनुरूप मोड़ना होगा या अपने स्वभाव के अनुकूल समाज की परिस्थिति को ही, बुद्धिमता के साथ बदलने का प्रयत्न करना होगा। हम में से अधिकांश लोगों के जीवन की परिस्थितियों में जो परिवर्तन होते हैं या हो चुके हैं उन के प्रति समझबूझ के साथ जागरूक रहने की अपेक्षा परिस्थिति के अनुरूप अपनी आदतें बदल लेना और नयी आदतें डाल लेना अधिक पसंद करते हैं। यह जो नयी आदतें डाल लेना है, यही आरोपित स्वभाव को अपनाना है। फिर जब आरोपित स्वभाव के आधार पर कुछ ,बनने की प्रक्रिया चालू होती है, तब उस व्यक्ति का जीवन सदा संघर्षमय और निराशामय हो जाता है।

मूल स्वभाव को खोजने का अर्थ है जीवन को नया आयाम देना। मूल स्वभाव की खोज जीवन यात्रा में एक महान् क्रांतिकारी घटना है। जिस क्षण यह खोज सफल होती है, उसी क्षण उस व्यक्ति का नाम बदल जाता है, उसका नया नाम करण हो जाता और वह नया नाम ही उसका सच्चा नाम है। वह अपना पुराना नाम छोड़ देता है, उसका कभी स्मरण भी नहीं करता। उस नाम के साथ ही उसके सभी सहचारी भाव और सारी पुरानी स्मृतियाँ नष्ट हो जाती है। हिन्दुओं मे एक प्रथा है, वह यह कि मनुष्य जब संन्यास ग्रहण करता है तब उसका नाम बदल जाता है। गुरू उसे अपनी ओर से एक नया नाम देता है। इस नामकरण के साथ उसके पूर्वजीवन की सारी घटनाएँ भुला दी जाती हैं। वास्तव में पुरानी स्मृतियो का भूलना और नया नामकरण करना दोनों एकसाथ होनेवाली क्रियाएँ हैं। इसमें कोई शंका नहीं कि यह नया नामकरण गुरू अनुग्रह पर निर्भर है। शिष्य के अन्तर में जो आध्यात्मिक जीवन प्रस्थापित हुआ होगा उसी का सूचक केन्द्रबिन्दु यह नया नाम होता है। यह नया नामकरण उस 'परम अज्ञात' की कृपा का ही अवतरण है, इसमें शंका नहीं है। गुरू केवल स्थूल शरीर नहीं है, वह है परतत्व, परम चैतन्य। परम चैतन्य का अनुग्रह विद्युत्प्रभा के समान होता है जो क्षणार्ध में घने से घने अन्धकार को भी भेद कर यात्री के पथ को आलोकित कर देता है। उसे चाहे प्रज्ञा कहें, अन्तःस्फुरण कहे या कुछ भी नाम दें। उस अनुग्रह के अवतरित होते ही समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं और शिष्य स्पष्ट देख लेता है कि आगे का मार्ग क्या है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।

—सर्वदा समस्त कर्मों को करते हुए भी, मेरा आश्रय ले कर मेरे अनुग्रह से शाश्वत और अक्षय पद प्राप्त करता है ।

गुह्यविद्या की परम्परा में एक स्थान पर कहा गया है कि शिष्य गुरु को खोज नहीं सकता है ; गुरु ही शिष्य को खोज लेता है । चूँकि गुरु परम चैतन्य-स्वरूप है, इसलिए उसे मानव का सीमित चैतन्य अपने प्रयत्नों से कैसे जान पायेगा जो उसकी पहुँच से परे है । चित्त का प्रयत्न अमुक एक बिन्दु तक ही पहुँच पाता है, फिर वहाँ पहुँचने के बाद अपनी मर्यादा को समझ कर उसे रुक जाना पड़ता है । उस मल-विरति की स्थिति में, जहाँ कि ज्ञात का विसर्जन हो जाता है, अज्ञात का अनुग्रह अवतरित होता है परन्तु उस अनुग्रह के अवतरण की शर्त यह है कि साधक को 'मुझे' में, यानी अज्ञात में शरण लेनी होगी । चित्त जब तक ज्ञात में ही फँसा रहेगा, तब तक अपने ही संकीर्ण दायरे में उसे मर्यादित रहना होगा । जिस क्षण मनुष्य ज्ञात का त्याग कर देता है, मन में युगों-युगों से संचित समस्त परिग्रहों का पूर्ण विसर्जन कर देता है, तब, बल्कि तभी, उस महामहिम का अनुग्रह, उस अज्ञात भूमि का अक्षीण प्रकाश मनुष्य को प्राप्त होता है । उसी प्रकाश से मनुष्य अपने मूल स्वभाव को जान पाता है और नयेनाम से विभूषित होता है । जब मनुष्य अपने उस आत्म-साम्राज्य में पहुँच जाता है, तब न केवल अपने वास्तविक नाम को पहचानता है, बल्कि संसार के समस्त पदार्थों का भी असली नाम जान लेता है । वह उन्हें उनके उन असली नामों से ही सम्बोधन करता है । उसके आमंत्रण का प्रतिसाद (रेस्पान्स) प्रकृति देती है, क्यों कि प्रकृति केवल असली नाम को ही जानती है, आरोपित नाम को वह पहचानती ही नहीं । उस समय से मनुष्य और प्रकृति दोनों महान् वैश्विक योजना में सहयोगी बन जाते हैं, और यही प्रत्येक मनुष्य का चरम लक्ष्य है । गीता कहती है :

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ।

—'मुझ में चित्त पिरोकर तुम मेरे अनुग्रह से समस्त बाधाओं को पार करोगे । अन्यथा अहंकारवश हो कर सुनोगे नहीं, तो विनष्ट हो जाओगे ।'

अज्ञात का अनुग्रह सर्वसुलभ है, परन्तु उसकी प्राप्ति में अहंकार बाधक बना

खड़ा है। अहंकार ही मानव का आरोपित स्वभाव है। अहंकार मन के सारे प्रयत्नों और व्यापारों का जोड़ है, योग है। वह मन के द्वारा संचित ज्ञानों से निर्मित होता है मनुष्य को अपने ज्ञान का बड़ा गर्व होता है, क्योंकि वह मानता है कि उस ज्ञान के बल पर वह सारी समस्याएँ सुलझा सकता है। परन्तु जब तक ज्ञान बोलता रहेगा, तब तक विज्ञान (विज्डम की वाणी सुनाई नहीं देगी। जब ज्ञान का अहंकार मिट जाता है, तब विज्ञान का अनुग्रह प्राप्त होगा जो कि अज्ञात का वरदान है, उस पार का अक्षीण आलोक है।' उस अनुग्रह के प्राप्त होने पर मनुष्य सारी विघ्न-बाधाओं को पार कर सकेगा, क्योंकि तब उसे केवल अपने ही बल पर लड़ना नहीं पड़ेगा, उसके बल के साथ उस सर्वशक्ति-सम्पन्न, सर्वसमर्थ का भी बल जुड़ जायेगा। श्री कृष्ण कहते हैं :

> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत
> तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।

—'हे भारत सर्वभाव से उसी की शरण जाओ। उसके अनुग्रह से परम शांति और शाश्वत पद प्राप्त करोगे।'

सर्व-भाव से उस अव्यक्त की शरण जाना—यही श्री कृष्ण का प्रमुख संदेश है। श्री कृष्ण 'सर्वभावेन' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। अज्ञात को किया जाने वाला समर्पण पूर्ण होना चाहिए, कहीं कुछ भी बचा नहीं रखना है। श्री माधव के प्रति राधाजी का आत्म-निवेदन इस समस्त भावों के—भौतिक से लेकर आत्मिक तक के सभी स्तरों के सम्पूर्ण समर्पण का प्रतीक है। गीता यहाँ जिस पूर्ण समर्पण का उल्लेख कर रही है, उसका वह एक स्पष्ट चित्र है। चित्त सभी वस्तुओं से पृथक् हो जाना चाहिए ताकि उसे अज्ञात का प्रसाद प्राप्त हो सके। यानी चित्त को अपने सभी आरोपित स्वभावों से मुक्त हो जाना चाहिए ताकि वह आश्वस्त हो सके। चित्त को सर्वथा नामशेष हो जाना चाहिए ताकि अध्यात्म-यात्रा का वास्तविक नाम उसे मिल सके।

एक बात स्मरण रखनी है कि गीता के पूर्ण समर्पण का अर्थ अंधश्रद्धा नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में भी अर्जुन से श्री कृष्ण कह रहे हैं :

> इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया
> विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।

—'तुम्हें मैंने इस प्रकार गूढ़तर ज्ञान बताया है; इन सब पर पूर्णतया सोच-विचार कर, जैसा चाहो वैसा करो।'

गीता में कहीं नाममात्र के लिए भी दबाव नहीं है। समर्पण यदि दबाव से होता है, तो वह समर्पण नहीं है। दबाव का होना ही इस बात का सूचक है कि वहाँ कुछ संघर्ष है; दबाव से यही पता चलता है कि मनुष्य दूसरा भी कुछ कर सकता था, परन्तु परिस्थिति की विवशता के कारण उसे यह करना पड़ा। इस लिए पूर्ण समर्पण तभी सम्भव होता है कि जब मन की सारी कामनाएँ और आकांक्षाएँ समाप्त हो जाती हैं, जान बूझकर, प्रयासपूर्वक हटायी नहीं जातीं। समर्पण का अर्थ है अज्ञात में कूद पड़ना। जो उस अज्ञात के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता है, वह वास्तव में सुरक्षित है, आश्वस्त है; क्योंकि उसकी सार-सम्भाल स्वयं अज्ञात कर लेता है। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्ष यिष्यामि मा शुचः।

—'सारे धर्मों को छोड़ कर एक मेरी ही शरण जाओ। मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूँगा। शोक न करो।'

सर्वधर्म-परित्याग का अर्थ है सारे कल्पित मनोरथों का त्याग। मन के अपने संकल्प होते हैं जो उस के आरोपित स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। जब मनुष्य अपना संकल्प छोड़ देता है, तब वह वैश्विक संकल्प की गोद में चला जाता है। अपने मन के संकल्पों का त्याग करने पर ही मनुष्य पहली बार देखता है कि उसके अपने वास्तविक स्वभाव का संकल्प क्या होता है। वास्तव में मनुष्य के मूलस्वभाव का संकल्प और वैश्विक संकल्प दोनों भिन्न नहीं हैं। जब आत्मा में ब्रह्मत्व ही है, तब ब्रह्म के संकल्प से भिन्न और प्रतिकूल संकल्प आत्मा का कैसे हो सकता है? इस प्रकार मूल स्वभाव की खोज के प्रयत्न में संकल्पों का संघर्ष समाप्त हो जाता है। मनुष्य का समर्पण किसी बाहरी और भिन्न वस्तु के प्रति नहीं, स्वयं अपने ही प्रति है, अपने मूल स्वभाव के प्रति ही है। इस लिए समर्पण का तत्व पराधीनता का तत्व नहीं है, बल्कि अनिर्वच्य मुक्ति का तत्व है। गीता के निम्न श्लोक में यही बात बहुत स्पष्ट की गयी है। अर्जुन को श्री कृष्ण का यह अन्तिम सम्बोधन है। श्री कृष्ण पूछते हैं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।

—'पार्थ, क्या तुमने यह सब एकाग्र मन से सुना? हे धनंजय, क्या तुम्हारा अज्ञान—जनित सारा मोह नष्ट हुआ?'

गीता के सारे उपदेशों के अन्त में श्री कृष्ण अर्जुन से पूछ रहे हैं—'मैंने जो कुछ कहा, क्या वह तुमने सुना ?' इतनी उन्नत अवस्था में भी श्री कृष्ण कोई आदेश नहीं दे रहे है; विधान नहीं कर रहे हैं : अर्जुन पर किसी प्रकार का प्रमाण्य लाद नहीं रहे हैं। शिष्य से गुरु पूछता है—'तुम्हारा अज्ञान-जनित सम्मोह नष्ट हुआ ?' इस प्रश्न को देखने से पता चलता है कि गीता का उपदेश मुख्यतया चित्तविक्षेप की समस्या के समाधान के लिए ही है। अर्जुन का चित्त विक्षिप्त था। परन्तु उस विक्षेप का कारण क्या था ? श्री कृष्ण कह रहे हैं कि उन के प्रिय शिष्य और आप्त मित्र के चित्त-विक्षेप का मुख्य कारण अज्ञात था। किस बात का अज्ञान था ? निस्सन्देह, मूल स्वभाव के विस्मरण से उत्पन्न अज्ञान था। कवि वर्ड्सवर्थ कहता है—"हमारा जन्म मात्र एक निद्रा है, एक विस्मृति है ऽ हमारे साथ जो जीव जगता है वह कहीं सुन्दर देश से आता है : हमारे जीवन का सितारा कहीं और बसा हुआ है"

श्री कृष्ण के प्रश्न का जो उत्तर अर्जुन ने दिया है, वह बड़ा ही महत्व-पूर्ण है। वास्तव में उस उत्तर में गीता का उपसंहार है। अर्जुन कहता है :

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

—'हे अच्युत, मेरा मोह नष्ट हुआ। आप के अनुग्रह से मैंने अपनी स्मृति प्राप्त कर ली है। संशयरहित हो कर स्थित हुआ हूँ। आप के वचनानुसार चलूँगा।'

अन्त में अर्जुन श्री कृष्ण के कहे अनुसार चलना चाहता है। उस में यह आमूल परिवर्तन कैसे हुआ ? निश्चित ही यह दिव्य चमत्कार ईश्वरानुग्रह का ही परिणाम है : परमेश्वर के दिव्य उपदेशों को उस ने एकाग्रतापूर्वक जो सुना और उस के परिणामस्वरूप जो भगवत्प्रसाद उसे उपलब्ध हुआ उसी का यह फल है। मात्र श्रवण से ही अर्जुन के संशय मिट गये। हम भी यदि जीवन-संगीत को मात्र सुन सकें तो हमें भी अनुपम महिमामण्डित, अनिर्वचनीय सौन्दर्य-सम्पन्न दृष्टि प्राप्त हो सकती है। न हम अभिनन्दन करें, न ही निन्दा करें, केवल श्रवण करें, तो यही एकान्त-श्रवण मन की देहरी पार करने का और अक्षय-सुख साम्राज्य में प्रवेश करने का उपाय है। एकाग्र होकर सुनना ही मोहमुक्त होना है। यही है वस्तुओं को उन के मूल स्वरूप में देखना। प्रभु से अर्जुन यही कह रहा है : नष्टो मोहः—, मोह नष्ट हुआ।' परन्तु मोहनाश का अर्थ क्या है ?

मोहनाश का अर्थ है स्मृतिलाभ। अर्जुन को स्मृतिनाश का दुख सहना नहीं पड़ा था, उसका तो स्मृतिविभ्रम हुआ था। यह विभ्रम कब होता है? तब होता है जब माया से सत्य आवृत्ति होती है: वस्तुलक्षी स्मृति आत्मलक्षी स्मृति से अच्छादित होती है। अर्जुन ने एकाग्र होकर श्रवण किया तब उसकी स्मृति स्पष्ट हुई और वह सत्य को सत्य देख सका। लेकिन ऐसा श्रवण तभी सम्भव है जब समस्त आत्मलक्षी स्मृतियाँ समाप्त कर दी जाती हैं। इसी को सिद्ध करने के लिए गीता अभ्यास और वैराग्य रूपी दो साधनों पर, मानो मन की वृत्तियों और प्रवृत्तियों के सर्वांगीण निरीक्षण पर बल देती है। मन का निरीक्षण उस की कर्मरत अवस्था मे ही किया जा सकता है, कर्मानुबन्धी सम्बन्धों में ही किया जा सकता है। सम्बन्धों के दर्पण में जब हम अपने विचारों और भावनाओं को समग्रतापूर्वक देखने लगते हैं, तभी पूर्ण अवधान युक्त और एकाग्र श्रवण की क्षमता आ सकती है। पूर्ण अवधान का अर्थ ही है जीवन जैसा प्राप्त होता है वैसा ही स्वीकार करना, राग-द्वेष-विहीन हो कर जीवन को यथावत् अंगीकार करना। यही ईश्वरानुग्रह है जो सारे संशयों का उच्छेद करता है और जीवनसम्बन्धी परम दृष्टि प्रदान करता है। जब श्री कृष्ण से अर्जुन कहता है—करिष्ये वचनं तव—आपके वचनानुसार चलूँगा, तब विश्व-संकल्प मे वैयक्तिक संकल्प के विलीन होने की दिव्य घटना घटित होती है अर्जुन के जीवन का सारा संघर्ष इसी वैयक्तिक चित्त के तनाव के कारण था। परन्तु अवधानयुक्त श्रवण के कारण जब उसका चित्त शांत हुआ, स्थिर हुआ, तब वह अपने वैयक्तिक संकल्पों से मुक्त हो गया। उसे स्मृति पुनः प्राप्त हो गयी। और शाश्वत जीवन की दृष्टि उपलब्ध हो गयी। इसी दृष्टि के कारण उभय संकल्पों की एकात्मकता की प्रतीति अर्जुन को हो सकी। उसने कहा कि मेरे सारे सन्देह दूर हुए। तब तक वह यही मानता रहा कि वैश्विक संकल्प उसके संकल्पों से भिन्न है। यह भ्रम उसका तब तक बना रहा जब तक उसका मन अपनी ओर से सक्रिय रहा। श्री कृष्ण ने मनो व्यापार की सात्त्विक, राजस तामस श्रेणियों का वर्णन करके उसे समझाया। तब तक अर्जुन का चित्त तमः प्रधान रहा, तब तक वह अपने बन्धु-मित्रों की मृत्यु के विचार से विक्षिप्त रहा। जब रजः प्रधान चित्त काम करने लगा तब उसकेविक्षेप का कारण उसकी नित्यता का खंडितहो जाना रहा। फिर जब सत्यवृत्ति जगी तब वह कर्तव्यसम्बन्धी मिथ्याधारणा से विक्षिप्त होने लगा। इस प्रकार अर्जुन के चित्त विक्षेप के कारणीभूत विषय तीन थे—मृत्यु अनित्यता और कर्तव्य। जब अर्जुन गुण त्रयातीत अवस्था में पहुँचा तब उसमें स्पष्ट दर्शन की क्षमता

आयी। मिथ्या भावना से उत्पन्न सारे सन्देह दूर हुए। उसने अनुभव किया कि उसका अपना संकल्प और विश्व का संकल्प एक है। अब उसने श्री कृष्ण से कहा कि—करिष्ये वचनं तव, तब उसने यह अनुभव कर लिया था कि उसका वास्तविक मूल स्वभाव जो चाहता है और विश्व सकल्प उससे जो कराना चाहता है, दोनों में कोई विरोध नही है।

गीता उभय संकल्पों की इस एकात्मता के साथ अपने दिव्य उपदेशों को समाप्त कर रही है। स्वतंत्र संकल्प और स्वतंत्र निर्णय की समस्या मनोनिर्मित है। मन से परे चले जाने के बाद कोई समस्या नहीं रह जाती। मन को जो भी नियतिवाद या निष्कर्षवाद दिखाई देता है वह सब उसके अपने ही राग-द्वेष हैं, प्रिया प्रियरुप द्वन्द्व हैं। जब मन के द्वन्द्व मिट जाते हैं, तब एक ही मार्ग शेष रह जाता है। स्वभाव की खोज करते-करते स्वधर्म हाथ लगता है। स्वभाव को पहचान लेने के बाद मनुष्य घोषित करने लगता है—नान्यः पन्था विद्यते अयनाय—'दूसरा कोई मार्ग है नही।' इसी प्रतीति के साथ अर्जुन कह रहा है—करिष्ये वचनं तव। उसने देख लिया कि श्री कृष्ण केवल उसके ही स्वधर्म का निर्देश दे रहे हैं। प्रारम्भ में वह उस पर चलने से इन्कार करता है, क्योंकि वह अपना स्वभाव पहचान नहीं पाता है। ज्यों ही वह स्वभाव को जान गया त्यों ही उस निर्दिष्ट मार्ग पर चलना उसने स्वीकार कर लिया। उसका अन्तर्विरोध समाप्त हो चुका था। उसके सन्देह मिट चुके। अपने आत्मा में उसने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया था।

यद्यपि अर्जुन की इस स्वीकारोक्ति के साथ गीता समाप्त हो जाती है, फिर भी संजय की फलश्रुति अभी शेष है, जो श्रीकृष्णार्जुन-संवाद को बड़े आश्चर्य के साथ, बड़े हर्ष के साथ सुनता रहा है। संजय कुरुक्षेत्र की घटनाओं का तटस्थ दर्शक रहा है। संजय वैयक्तिकता-रहित वस्तुलक्षी प्रवक्ता रहा है। वह गीता की सारी शिक्षा का एक श्लोक में उपसंहार कर रहा है, जो इस महाग्रन्थ का अंतिम श्लोक है। संजय कहता है :

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः
> तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

—'जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन है, वहाँ श्री, विजय, समृद्धि और न्याय होंगे, यह मेरी दृढ़ धारणा है।'

कुरुक्षेत्र में श्री कृष्ण अर्जुन-रथ का केवल सारथ्य कर रहे थे। उन्होंने युद्ध में शस्त्रधारण न करने का वचन दिया था। और अर्जुन ने उनको उनके सारथ्य निपुणता के ही कारण अपने पक्ष में चुना था। यद्यपि श्रीकृष्ण ने शस्त्र-धारण न करने का अपना संकल्प स्पष्ट व्यक्त किया था, तब भी अर्जुन ने निःसंकोच उन्हें अपने लिए माँग लिया था। दुर्योधन यही सोच रहा था कि श्री कृष्ण की महाबलशाली सेना को अपनी सहायता के लिए न माँग कर अर्जुन ने भूल की। परन्तु अर्जुन के इस चुनाव का आशय क्या है? और संजय के उपर्युक्त श्लोक का भावार्थ क्या है?

महाभारत-युद्ध में श्री कृष्ण अकर्म के प्रतीक हैं और अर्जुन कर्म का प्रतीत हैं। जो भी कर्म अकर्म की भूमिका में रह कर किया जाता है वह सफल होकर रहनेवाला है। गीता में अर्जुन सक्रिय और सजग मानव-मन का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु श्री कृष्ण परा बुद्धि का, प्रज्ञा का निदर्शन हैं। जो मन परा बुद्धि से आलोकित होता है, उसकी विजय सुनिश्चित है। मनुष्य यदि अपने जीवन में बुद्धि को सारथि बना कर चलता है तो उसे पथभ्रष्ट होने का कोई कारण नहीं है। परन्तु बुद्धि उसी मन का सारथ्य कर सकती है जो सजग और सक्रिय है, जड़ और निष्क्रिय नहीं। मन को अपना नियत कार्य सुचारु रूप से करना ही होगा, तभी उसे परा बुद्धि का प्रकाश प्राप्त होगा। प्रायः हम निष्क्रिय और जड़ बुद्धि से काम करते हुए अपेक्षा रखते हैं कि हमें परा बुद्धि का मार्ग दर्शन मिल जाय। कभी-कभी हमारी बुद्धि सक्रिय और विधायक होती है। लेकिन ऐसी बुद्धि को कभी भी परा बुद्धि का उज्ज्वल आलोक उपलब्ध नहीं हो सकता। क्योंकि परा बुद्धि का आलोक उसी चित्त को मिल सकता है जो सजग तो हो, पर निषेधात्मक हो, अ—भावात्मक हो। अर्जुन ऐसे ही चित्त का प्रतीक है। वह सजग था, धनुर्धारी था, शस्त्र-प्रहार करने की उसमें शक्ति थी, फिर भी वह इतना विनम्र था कि उसने अपने रथ की बाग-डोर श्री कृष्ण के हाथों सौंप दी। उसने अपेक्षा नहीं रखी कि श्री कृष्ण युद्ध करें। बल्कि स्वयं युद्ध-प्रवृत्त था। परन्तु जहाँ वह महापराक्रमी और महारथी था, वहीं उसने अपने संग्राम-रथ की बागडोर श्री कृष्ण के ही हाथों सौंपना पसंद किया। गीता में जो बात कही गई है, वही गुप्तविद्या के ग्रन्थों में भी कही गयी है। मौसिमुए को उद्देश्य करके उसमें कहा गया है कि—"यद्यपि तू लड़ेगा, फिर भी तू लड़ैया न बन।" युद्ध करें, फिर भी योद्धा न बनें—बड़ा विचित्र लगता

है। गीता में भी इस प्रकार के विरोधाभास विद्यमान हैं। क्योंकि गीता भी कहती है कि तुम्हारे कर्म अकर्म की भूमिका में हों। जहाँ योग और धनुष हैं, अर्थात् दृष्टि और कृति एकत्र होती हैं, जब मन और बुद्धि दोनों पूर्ण सामंजस्य के साथ काम करने लगते हैं। जब मन पराबुद्धि को अपना सारथि बनने को आमंत्रित करता है, तब जीवन-युद्ध में विजय सुनिश्चित है; मन पराबुद्धि के हाथ का एक साधन बने, यही गीता का प्रमुख सन्देश है। आज के हमारे इस मनःप्रधान युग में गीता हमें पराबुद्धि का दिव्य सन्देश दे रही है और कह रही है कि *मनोनिर्मित समस्याओं का वास्तविक समाधान तभी हो सकेगा जब* मन प्रज्ञा से आलोकित होगा। गीता मानव-चित्त को ज्ञान-प्रक्रिया को एक नया आयाम दे रही है—मनोमूलक आयाम नहीं, पराबुद्धि मूलक, प्रज्ञानिष्ठ आयाम। जीवन के परमोन्नत शिखर पर आरोहण करने की इच्छा रखनेवाले साधक को गीता का यही भव्य सन्देश है। गीता हमें आमंत्रित कर रही है कि जीवन की संकरी घाटियों का *निवास छोड़कर हम उत्तुंग गिरि-शिखरों* पर सदा के लिए जा बसें।